गद्य-भारती

सम्पादक
ओम्प्रकाश
रीडर, हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१९७८

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
रामनगर, नई दिल्ली-११००५५

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
रामनगर, नई दिल्ली-११००५५
शोरूम : ४/१६-बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२
शाखाएँ :
अमीनाबाद पार्क, लखनऊ-२२६००१
२८५/जे, बिपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता-७०००१२
सुल्तान बाजार, हैदराबाद-५००००१
३, गाँधी सागर ईस्ट, नागपुर-४४०००२
खजांची रोड, पटना-८००००४
माई हीरा गेट, जालन्धर-१४४००८
३५, अना सलाए, मद्रास-६०००२
ब्लैकी हाउस, १०३/५, वालचन्द हीराचन्द मार्ग, बम्बई-४००००१
के० पी० सी० सी० बिल्डिंग, रेस कोर्स रोड, बंगलौर-५६०००६
८-१ बैनर्जी रोड, एरनाकूलम नार्थ, कोचीन-६८२०१८

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली-११००५५ द्वारा प्रकाशित तथा राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-११००५५ द्वारा मुद्रित।

सम्पादकीय निवेदन

प्रस्तुत सग्रह विशेषतः उन छात्र-छात्राओ को दृष्टि मे रखकर तैयार किया गया है जो हिन्दी-भाषा का अध्ययन 'प्रथम भाषा' के रूप मे नही करते। या तो जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नही है या जिनकी शिक्षा ऐसी सस्थाओं मे हुई है जो किसी भारतीय भाषा को पाठ्यक्रम मे उचित स्थान नही देती। ऐसे विद्यार्थियों के लिए हिन्दी 'साहित्यिक भाषा' उतनी नही है, जितनी कि भारत देश मे सुप्रचलित भाषा 'भारती'। इस सग्रह की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(१) सकलित रचनाओ मे गद्य के विभिन्न रूप—प्रवचन, भाषण, परिचय-लेख, सास्कृतिक निबन्ध, समस्यात्मक लेख, मनोवैज्ञानिक निबन्ध, कहानी, नाटक, आत्मकहानी, आलोचना आदि—आ गए है।

(२) इनमे सास्कृतिक सगम का प्रयत्न है। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, श्री विनोबा भावे, काका साहब कालेलकर, श्री जयशकर प्रसाद, बाबू गुलाबराय और डॉ० ओमप्रकाश की रचनाएँ उक्त प्रयत्न की साक्षी है। इनमे लेखको ने इतर मत-सम्प्रदाय, मातृभाषा और प्रदेश से सम्बद्ध सॉस्कृतिक आधारो पर अपने अनुभूतिपूर्ण एव व्यवस्थित विचार प्रकट किए है।

(३) सभी रचनाएँ ऐसी है जो सर्वतः व्याप्त भारतीय सामाजिक जीवन मे रुचि उत्पन्न करें और युवक पाठकों के समक्ष राष्ट्रीय, सास्कृतिक एव सुरुचिपूर्ण उच्च परन्तु साध्य आदर्श उपस्थित कर सकें।

(४) रचनाओं की भाषा-शैली परिनिष्ठित एवं प्रवाहमयी है। फलतः चित्र-विचित्र भाषा-रूपों के कँकरीले बीहड़ में न भटकता हुआ पाठक एक स्थिर एव दृढ़ भाषा-भूमि पर जमकर अपना मार्ग स्वय खोज सकता है।

(५) सभी लेखक वर्तमान युग के हैं और जिन-जिन विषयों पर उनकी रचनाएँ संकलित हैं उन पर प्रस्तुत दृष्टि से वे अधिकारी है। अन्य संग्रहों की भाँति हिन्दी-गद्य के उद्भव से लेकर अब तक के नमूने प्रस्तुत करने के

लिए पुराने लेखक और स्फूर्तिहीन रचनाओ को यहाँ स्थान नही दिया गया ।

(६) ये लेखक केवल वे ही नही है, जिन्होने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को भरा है, प्रत्युत वर्तमान युग के गण्यमान्य विचारक भी है । चूकि हिन्दी मे लिख सकने वाला या वस्तुत. हिन्दी मे लिखने वाला व्यक्ति ही हिन्दी का लेखक नही, प्रत्युत हिन्दी-भाषी जनता का अपने विचारो से नेतृत्व करने वाला भी हिन्दी का अपना है । इस वर्ग के मनीषियों और कलाकारो के हमने प्रामाणिक अनुवाद ही इस सकलन मे लिए है ।

(७) लेखको मे ११ हिन्दी-भाषी है और ८ अहिन्दी-भाषी; इनके द्वारा तमिल, तेलुगू, मराठी, गुजराती तथा बगला भाषा-क्षेत्रो का भी प्रतिनिधित्व हो गया है ।

(८) पुस्तक के अन्त मे परिशिष्ट रूप से लेखकों के संक्षिप्त परिचय तथा पाठान्तर्गत आए हुए कठिन स्थलों के साकेतिक अर्थ भी दे दिए है । ये दोनो अध्यापको तथा छात्रो के मार्ग-निर्देश करने के लिए ही हैं, अध्यापको के सक्रिय श्रम और विद्यार्थियो की वृद्धिमती जिज्ञासा का हनन नही करते ।

इस प्रकार विषय-वस्तु, भाषा-शैली तथा लेखक-जन तीनो को ही समवेत रूप से ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत सग्रह को प्रतिनिधि, उपयोगी तथा आदर्श बनाने का प्रयत्न किया गया है । आशा है देश-विदेश के उन छात्र-छात्राओ के लिए यह लाभदायक सिद्ध हो सकेगा, जिनके लिए इसको तैयार किया गया है ।

लेखक महोदयो ने उदारतापूर्वक अपनी रचनाओं को इस संग्रह में संकलित करने की अनुमति प्रदान की है । इसके लिए सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों हृदय से आभारी हैं । उनको विश्वास है कि उनका श्रम सफल होकर विद्यार्थी-समुदाय मे हिन्दी के प्रति सुरुचि उत्पन्न कर सकेगा ।

।मप्रकाश

विषय-सूची

विषय | | | पृष्ठ

सत्य और अहिंसा

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है 'अस्ति'; सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के सिवा दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नही है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही सत् अर्थात् सत्य है। इसलिए परमेश्वर सत्य है, यह कहने की अपेक्षा सत्य ही परमेश्वर है, कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा; लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि सत् या सत्य ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करने वाला है।

सत्य के साथ शुद्ध ज्ञान होना आवश्यक है। जहाँ सत्य नही, वहाँ शुद्ध ज्ञान भी सम्भव नही। इसलिए ईश्वर नाम के साथ 'चित्' अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक वहाँ होगा ही नहीं। चूँकि सत्य शाश्वत है, अतः आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम 'सच्चिदानन्द' इस नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना हम सीख जायँ तो दूसरे सब नियम हमारे साथ सहज ही लग जा सकते है। उनका पालन भी सरल हो जायगा। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणतः सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने सत्य शब्द का विशाल अर्थ में प्रयोग किया है।

विचार में, वाणी में और आचार मे सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को सम्पूर्णतः समझने वाले के लिए जगत् मे और कुछ जानना शेष नही रहता; क्योकि हम ऊपर विचार कर आये है कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाये वह सत्य नहीं है, ज्ञान नही है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहां से सकता है? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना सीख जायें तो यह जानने में देर नही लगेगी कि कौनसी प्रवृत्ति उचित है और कौन त्याज्य, क्या तो देखने योग्य है और क्या नही, क्या पढ़ने योग्य है और क्या नही।

पर यह पारसमणि-रूप, कामधेनु-रूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवान् ने दिया है—अभ्यास और वैराग्य से। सत्य में ही लौ लगाये रखना अभ्यास है, उसके सिवा अन्य सब वस्तुओं में अत्यधिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायेंगे कि एक के लिए जो सत्य है, दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है। इसमें घबराने की बात नही है। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है, वहाँ भिन्न जान पड़ने वाले सब सत्य एक ही पेड़ के असख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तों के समान है। परमेश्वर ही क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नही देता? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अतः जिसे जो सत्य लगे, तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है, अर्थात् आत्म-कष्ट-सहन की बात होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है। अतः उसमे स्वार्थ की तो गंध तक भी नही होती, ऐसी निःस्वार्थ खोज मे लगा हुआ आज तक कोई अन्तपर्यन्त गलत रास्ते पर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्य ही आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह हरि का मार्ग है, जिसमें कायरता की गुंजायश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो मरकर जीने का मन्त्र है।

पर अब हम लगभग अहिंसा के किनारे आ पहुँचे है। उस पर अगले सप्ताह विचार करूँगा।

इस प्रसंग के साथ हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमाम हसन, हुसेन, ईसाई सन्तों आदि के दृष्टान्त विचारने योग्य है। चाहिए कि अगले सप्ताह तक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते—सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहे। और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो? यह सत्य रूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्न-चिन्तामणि सिद्ध हुआ है। हम सबों के लिए वैसा ही सिद्ध हो।

× × ×

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है, उतना ही तग भी, खाँडे की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते है।

लेकिन सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो इस देह से असम्भव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार सम्भव नहीं होता। अतः अन्त में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसी से अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आने वाले संकटों को सहे

या उसके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े ? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नही बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है। सकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नही है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है। उससे बचने को हमने उसे दण्ड दिया। उस वक्त के लिए तो वह भाग गया जरूर, लेकिन उसने दूसरी जगह सेंध लगाई। पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अतः हमने अँधेरी गली में ठोकर खाई। चोर का उपद्रव बढता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आयेगी। इस सहन से हम देखते है कि चोर कोई हमसे भिन्न नही है। हमारे लिए तो सब सगे है, मित्र है, उन्हें सजा देने की जरूरत नही है। लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नही है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अतः हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई बिरादर है तो उसमें यह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमे उत्तरोत्तर दुःख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाय तो अन्त में चोर साहूकार बन जाता है। ऐसा करते हुए हम जगत् को मित्र बनाना सीखते हैं; ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं, संकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढ़ता है, हम में साहस बढ़ता है, हम शाश्वत-अशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-

अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है, और देह के अन्दर भरा हुआ मैल दिन-प्रतिदिन कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना, इतना तो है ही। कुविचार-मात्र हिंसा है। उतावलापन हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वह जगत् के लिए आवश्यक है; जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्महत्या कर ले? तो भी निस्तार नही है; विचार में देह के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अन्त में देह हमें छोड़ देगी। यह मोह-रहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह समझ कर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था, पर हो गई है कठिन। फिर भी जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समझने में कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा के बिना सत्य की खोज असम्भव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत है जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है, इससे अहिंसा परम धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की

चिन्ता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे तो संकट आएँ, बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे कितनी ही हार होती दिखाई दे, तो भी हमे विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्य स्वरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है वह हमें इसके चलने का बल दे!

—महात्मा गांधी

कुमार अजातशत्रु

स्थान—प्रकोष्ठ

[राजकुमार अजातशत्रु, पद्मावती, समुद्रदत्त और शिकारी लुब्धक]

अजात०—क्यो रे लुब्धक ! आज तू मृगशावक नही लाया ! मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा ?

समुद्र०—कुमार ! यह बड़ा दुष्ट हो गया है। आज कई दिनों से यह मेरी बात सुनता ही नही।

लुब्धक—कुमार ! हम तो आज्ञाकारी अनुचर है। आज मैंने जब एक मृगशावक को पकड़ा, तब उसकी माता ने ऐसी करुणा-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा कि उसे छोड़ देते ही बना। अपराध क्षमा हो।

अजात०—हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र ! ला तो कोड़ा।

समुद्र०—(**कोड़ा लाकर देता है**) लीजिए। इसकी अच्छी पूजा कीजिये।

पद्मावती—(**कोड़ा पकड़ कर**) भाई कुणीक ! तुम इतने दिनों में ही बड़े निष्ठुर हो गये। भला उसे क्यो मारते हो ?

अजात०—उसने मेरी आज्ञा क्यों नहीं मानी ?

पद्मा०—उसे मैंने ही मना किया था, उसका क्या अपराध ?

समुद्र०—(**धीरे से**) तभी तो उसको आजकल गर्व हो गया है। किसी की बात नहीं सुनता।

अजात०—तो इस प्रकार तुम उसे मेरा अपमान करना सिखाती हो ?

पद्मा०—यह मेरा कर्त्तव्य है कि तुमको अभिशापों से बचाऊँ और अच्छी बातें सिखाऊँ। जा रे लुब्धक, जा, चला जा। कुमार जब मृगया खेलने जायें, तो उनकी सेवा करना। निरीह जीवों को पकड़ कर निर्दयता सिखाने में सहायक न होना।

अजात०—यह तुम्हारी बढ़ाबढ़ी मैं सहन नहीं कर सकता।

पद्मा०—मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशु जगत् में क्या कम है ?

समुद्र०—देवी ! करुणा और स्नेह के लिए तो स्त्रियाँ जगत में हुई है, किन्तु पुरुष भी क्या वही हो जायं ?

पद्मा०—चुप रहो समुद्र ! क्या क्रूरता ही पुरुषार्थ का परिचय है ? चाटूक्तियाँ भावी शासक को अच्छा नहीं बनाती।

[छलना का प्रवेश]

छलना—पद्मावती ! यह तुम्हारा अविचार है। कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है।

पद्मा०—माँ, यह क्या कह रही हो ! कुणीक मेरा भाई है, मेरे सुखों की आशा है, मैं उसे कर्त्तव्य क्यों न बताऊँ ? क्या उसे चाटुकारों की चालों में फँसते देखूँ और कुछ न कहूँ !

छलना—तो क्या तुम उसे बोदा और डरपोक बनाना चाहती हो ? क्या निर्बल हाथों से भी कोई राजदण्ड ग्रहण कर सकता है ?

पद्मा०—माँ, क्या कठोर और क्रूर हाथों से ही राज्य सुशासित होता है ? ऐसा विष-वृक्ष लगाना क्या ठीक होगा ? अभी कुणीक किशोर है, यही समय सुशिक्षा का है। बच्चों का हृदय

कोमल थाला है, चाहे इसमें कँटीली झाड़ी लगा दो, चाहे फूलों के पौधे।

अजात०—फिर तुमने मेरी आज्ञा क्यों भग होने दी ? क्या दूसरे अनुचर इसी प्रकार मेरी आज्ञा का तिरस्कार करने का साहस न करेंगे ?

छलना—यह कैसी बात ?

अजात०—मेरे चित्रक के लिए जो मृग आता था, उसे ले आने के लिए लुब्धक रोक दिया गया। आज वह कैसे खेलेगा ?

छलना—पद्मा ! क्या तू इसकी मगल कामना करती है ? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्दी सीख है ? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नही पढाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है। क्या तुझे नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है ?

पद्मा०—माँ, क्षमा हो। मेरी समझ में तो मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।

छलना—तू कुटिलता की मूर्ति है। कुणीक को अयोग्य शासक बना कर उसका राज्य आत्मसात् करने के लिए कौशाम्बी से आई है।

पद्मा०—माँ बहुत हुआ, अन्यथा तिरस्कार न करो। मैं आज ही चली जाऊँगी।

[वासवी का प्रवेश]

वासवी—वत्स कुणीक ! कई दिनों से तुमको देखा नहीं। मेरे मन्दिर में इधर क्यों नहीं आए ? कुशल तो है ?

[अजात के सिर पर हाथ फेरती है]

अजात०—नहीं माँ, मैं तुम्हारे यहाँ न आऊँगा, जब तक पद्मा घर न जायगी।

वासवी—क्यों ! पद्मा तो तुम्हारी ही बहिन है। उसने क्या अपराध किया है ? वह तो बड़ी सीधी लडकी है।

छलना—(**क्रोध से**) वह सीधी और तुम सीधी ! आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम भी यदि भलाई चाहो, तो प्रलोभन न देना।

वासवी—छलना ! बहिन ! यह क्या कह रही हो ? मेरा वत्स कुणीक ! प्यारा कुणीक ! हा भगवान् ! मैं उसे देखने न पाऊँगी ? मेरा क्या अपराध ··

अजात०—यह पद्मा बार-बार मुझे अपदस्थ किया चाहती है, और जिस बात को मैं कहता हूँ उसे ही रोक देती है।

वासवी—यह मै क्या देख रही हूँ, छलना ! यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है ? राज-परिवार में क्या सुख अपेक्षित नही है—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शांतिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?

छलना—यह सब जिन्हे खाने को नही मिलता, उन्हे चाहिए। जो प्रभु हैं, जिन्हें पर्याप्त है, उन्हे किसी की क्या चिन्ता—जो व्यर्थ अपनी आत्मा को दबावे।

वासवी—क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो ? पद्मा तो जैसी मेरी, वैसी ही तुम्हारी ! उसे कहने का तुम्हे अधिकार है। किन्तु तुम तो मुझ से छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखाकर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो ?

छलना—(**स्वगत**) मैं छोटी हूँ, यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नही है ! (**प्रकट**) मैं छोटी हूँ या बड़ी; किन्तु राजमाता हूँ। अजात को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है। उसे राजा होना है।

वह भिखमंगों का, जो अकर्मण्य होकर राज्य छोड़कर दरिद्र हो गये हैं, उपदेश नही ग्रहण करने पावेगा।

पद्मा०—माँ, अब चलो, यहाँ से चलो ! नहीं तो मैं ही जाती हूँ।

वासवी—चलती हूँ बेटी ! किन्तु छलना—सावधान ! यह असत्य गर्व मानव-समाज का बड़ा भारी शत्रु है।

[पद्मावती और वासवी जाती हैं।]

(पट-परिवर्तन)

—जयशंकर प्रसाद

नम्रता

सभी ज्ञानी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि नम्रता रखनी चाहिए, क्योंकि नम्रता से ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए कुछ लोग नम्र बन भी जाते हैं। किन्तु नम्रता स्वाभाविक और सच्चे हृदय से होनी चाहिए। हमारे पास जो विद्या, धन और गौरव आदि हैं, उनमें कोई महत्त्व नहीं है, इस बात का ज्ञान हो जाय तो नम्रता अपने-आप आ जायेगी।

गरीब आदमी का लड़का जानता है कि उसके बाप के पास धन नहीं है। उसका व्यवहार नम्र होता है। इसी में बुद्धिमत्ता है। इसी प्रकार धन-दौलत वाला भी नम्रतापूर्ण व्यवहार रखे, इसी में बुद्धिमत्ता है; क्योंकि धन-दौलत वास्तव में बहुत तुच्छ वस्तु है। नम्रता अन्तःकरण से होनी चाहिए। दूसरे लोग सराहना करें, इस विचार से हम नम्र बनें, तो वह नम्रता झूठी होगी।

एक बार एक चेले ने गुरु से सम्प्रदाय के अनुसार हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"मैं महा नीच हूँ, मुझे मार्ग बताएँ।" गुरु समझ गये और उन्होंने सोचा, चलो इसको जरा सिखा ही दें। उन्होंने चेले से कहा—"अभी तुम जाओ और अपने से कम कीमत की कोई भी वस्तु लेकर मेरे पास आना।"

चेला खुश होकर बाहर आया। किन्तु जब वह अपने से कम कीमती वस्तु की खोज में गया तो देखने लगा कि हर एक वस्तु उससे किसी-न-किसी बात में बड़ी है। पवित्रता में तथा उपयोगिता में प्रत्येक वस्तु उससे विशेष ही थी। उसने सोचा, गुरु तो साफ

पूछेंगे, तुमने क्योंकर समझा कि तुम्हारी लाई हुई वस्तु तुमसे किसी बात में कम कीमती है? इस समस्या को सुलझाने का बेचारे के पास कोई उपाय नहीं रहा। दूसरे दिन जब वह शौच के लिए जंगल में गया तो सोचने लगा—"मेरा मल अवश्य ही मुझसे तुच्छ होगा, इसी को मैं गुरु के पास क्यों न ले जाऊँ?" जब वह एक पत्ते में थोड़ा-सा मल लेने लगा तो कहीं से यह ध्वनि सुनाई दी—"नीच, मेरा स्पर्श मत कर! मैं तो एक जमाने में अत्यन्त स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ था। देव-नैवेद्य के भी काम आता था। अपने दुर्भाग्य से तेरे पास पहुँचा और तेरे सम्पर्क में आने से मेरी यह दुर्दशा हुई है। कृपा करके अब फिर मुझे हाथ न लगा। क्या मालूम, मेरी और क्या दशा हो जायगी।"

चेला खाली हाथ गुरु के पास पहुँचा और कहने लगा—"मुझसे तुच्छ वस्तु दुनिया में नहीं है। मैं अपने विसर्जित मल से भी घृणित हूँ।"

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

बड़े भाई साहब

मेरे भाई मुझसे पाँच साल बड़े थे, लेकिन केवल तीन दर्जे आगे। उन्होने भी उसी उम्र में पढना शुरू किया था, जिसमें मैने शुरू किया, लेकिन तालीम जैसे महत्त्व के मामले मे वे जल्दबाजी से काम लेना पसन्द न करते थे। इस भवन की बुनियाद खूब मजबूत डालना चाहते थे, जिस पर आलीशान महल बन सके। एक साल का काम दो साल मे करते थे। कभी-कभी तीन साल भी लग जाते थे। बुनियाद ही पुख्ता न हो, तो मकान कैसे पायदार बने।

मैं छोटा था, वे बड़े थे। मेरी उम्र नौ साल की, वे चौदह साल के थे। उन्हें मेरी निगरानी का पूरा और जन्मसिद्ध अधिकार था। और मेरी शालीनता इसी मे थी कि उनके हुक्म को कानून समझूँ।

वे स्वभाव से बड़े अध्ययनशील थे। हर दम किताब खोले बैठे रहते। और शायद दिमाग को आराम देने के लिये कभी कापी पर, कभी किताब के हाशियो पर चिड़ियो, कुत्तो, बिल्लियो की तस्वीरे बनाया करते थे। कभी-कभी एक ही नाम या शब्द या वाक्य दस-बीस बार लिख डालते। कभी एक शेर को बार-बार सुन्दर अक्षरों में नकल करते। कभी ऐसी शब्द-रचना करते, जिसमें न कोई अर्थ होता न कोई सामजस्य। मसलन एक बार उनकी कापी पर मैंने यह इबारत देखी—स्पेशल, अमीना, भाइयो-भाइयो, दर-असल, भाई-भाई, राधेश्याम, श्रीयुत् राधेश्याम, एक घण्टे तक—इसके बाद एक आदमी का चेहरा बना हुआ था। मैंने बहुत चेष्टा की कि इस पहेली का कोई अर्थ निकालूँ, लेकिन असफल

रहा। और उनसे पूछने का साहस न हुआ। वे नवी जमात में थे, मैं पाँचवीं में। उनकी रचनाओं को समझना मेरे लिए छोटा मुँह बड़ी बात थी।

मेरा जी पढने मे बिल्कुल न लगता था। एक घण्टा भी किताब लेकर बैठना पहाड था। मौका पाते ही होस्टल से निकल-कर मैदान मे आ जाता, और कभी कंकरियाँ उछालता, कभी कागज की तितलियाँ उड़ाता, और कही कोई साथी मिल गया, तो पूछना ही क्या। कभी चहारदीवारी पर चढकर नीचे कूद रहे हैं, कभी फाटक पर सवार, उसे आगे-पीछे चलाते हुए मोटरकार का आनन्द उठा रहे है, लेकिन कमरे में आते ही भाई साहब का रुद्र-रूप देखकर प्राण सूख जाते। उनका पहला सवाल होता—कहाँ थे? हमेशा यही सवाल, इसी ध्वनि मे हमेशा पूछा जाता था और इसका जवाब मेरे पास केवल मौन था। न जाने मेरे मुँह से यह बात क्यो न निकलती कि 'जरा बाहर खेल रहा था।' मेरा मौन कह देता था कि मुझे अपराध स्वीकार है। और भाई साहब के लिए इसके सिवा और कोई इलाज न था कि स्नेह और रोष से मिले हुए शब्दों में मेरा सत्कार करे—

"इस तरह अंग्रेजी पढ़ोगे, तो जिन्दगी भर पढ़ते रहोगे और एक हर्फ न आयेगा। अंग्रेजी पढना कोई हँसी खेल नही है कि जो चाहे पढ़ ले, नहीं तो ऐरा-गैरा, नत्थू-खैरा सभी अंग्रेजी के विद्वान् हो जाते। यहाँ रात-दिन आँखे फोड़नी पड़ती है, और खून जलाना पड़ता है, तब कही यह विद्या आती है। और आती क्या है, हाँ, कहने को आ जाती है। बड़े-बड़े विद्वान् भी शुद्ध अंग्रेजी नही लिख सकते, बोलना तो दूर रहा। और मै कहता हूँ, तुम कितने घोंघा हो कि देखकर भी सबक नही लेते। मै कितनी मेहनत करता हूँ, यह तुम अपनी आँखों देखते हो; अगर नही देखते, तो यह तुम्हारी आँखों का कसूर है, तुम्हारी बुद्धि का कसूर है। इतने मेले-तमाशे होते हैं, मुझे तुमने कभी देखने जाते देखा है? रोज ही क्रिकेट और

हाकी मैच होते है, मै पास नही फटकता। हमेशा पढ़ता रहता हूँ उस पर भी एक-एक दर्जे में दो-दो, तीन-तीन साल पड़ा रहता हूँ, फिर तुम कैसे आशा करते हो कि तुम यों खेल-कूद में वक्त गँवाकर पास हो जाओगे? मुझे तो दो ही तीन साल लगते है। तुम उम्र भर इसी दर्जे में पड़े सड़ते रहोगे। अगर तुम्हे इस तरह उम्र गँवानी है, तो बेहतर है, घर चले जाओ और मजे से गुल्ली-डण्डा खेलो। दादा की गाढी कमाई के रुपये क्यों बरबाद करते हो?"

मैं यह लताड़ सुनकर आँसू बहाने लगता। जवाब ही क्या था। अपराध तो मैंने किया, लताड़ कौन सहे? भाई साहब उपदेश की कला में निपुण थे। ऐसी-ऐसी लगती बाते कहते, ऐसे-ऐसे सूक्ति-बाण चलाते कि मेरे जिगर के टुकड़े-टुकडे हो जाते और हिम्मत टूट जाती। इस तरह जान तोड़कर मेहनत करने की शक्ति मैं अपने में न पाता था। और उस निराशा में जरा देर के लिये मैं सोचने लगता—क्यों न घर चला जाऊँ। जो काम मेरे बूते के बाहर है, उसमें हाथ डालकर क्यो अपनी जिन्दगी खराब करूँ? मुझे मूर्ख रहना मंजूर था लेकिन उतनी मेहनत! मुझे तो चक्कर आ जाता था, लेकिन घण्टे-दो-घण्टे के बाद निराशा के बादल फट जाते और मैं इरादा करता कि आगे से खूब जी लगाकर पढ़ूँगा। चटपट एक टाइम-टेबल बना डालता। बिना पहले से नक्शा बनाये, कोई स्कीम तैयार किये काम कैसे करूँ? टाइम-टेबल मे खेल-कूद की मद बिल्कुल उड़ जाती। प्रातःकाल उठना, छः बजे मुँह-हाथ धो नाश्ता कर पढने बैठ जाना। छः से आठ तक अंग्रेजी, आठ से नौ तक हिसाब, नौ से साढ़े नौ तक इतिहास, फिर भोजन और स्कूल, साढ़े तीन बजे स्कूल से वापस होकर आधा घण्टा आराम, चार से पाँच तक भूगोल, पाँच से छः तक ग्रामर, आधा घण्टा होस्टल के सामने ही टहलना, साढ़े छः से सात तक अंग्रेज़ी कम्पोज़ीशन, फिर भोजन करके आठ

से नौ तक अनुवाद, नौ से दस तक हिन्दी, दस से ग्यारह तक विविध विषय, फिर विश्राम।

मगर टाइम-टेबल बना लेना एक बात है, उस पर अमल करना दूसरी बात। पहले ही दिन से उसकी अवहेलना शुरू हो जाती। मैदान की वह सुखद हरियाली, हवा के वे हल्के-हल्के झोंके, फुटबाल की वह उछल-कूद, कबड्डी के दाँव-घात, वाली-बाल की वह तेजी और फुर्ती मुझे अज्ञात और अनिवार्य रूप से खींच ले जाती और वहाँ जाते ही मैं सब कुछ भूल जाता। यह जान-लेवा टाइम-टेबल, वे आँख-फोड़ पुस्तकें; किसी की याद न रहती, और फिर भाई साहब को नसीहत और फजीहत का अवसर मिल जाता। मैं उनके साये से भागता, उनकी आँखों से दूर रहने की चेष्टा करता, कमरे में इस तरह दबे पाँव आता कि उन्हे खबर न हो! उनकी नजर मेरी ओर उठी और मेरे प्राण निकले। हमेशा सिर पर एक नगी तलवार सी लटकती मालूम होती। फिर भी जैसे मौत और विपत्ति के बीच में भी आदमी मोह और माया के बन्धन में जकड़ा रहता है, मैं फटकार और घुड़कियाँ खाकर भी खेल-कूद का तिरस्कार न कर सकता।

। २ ।

सालाना इम्तहान हुआ। भाई साहब फेल हो गये, मैं पास हो गया और दर्जे मे प्रथम आया। मेरे और उनके बीच में केवल दो साल का अन्तर रह गया। जी में आया भाई साहब को आड़े हाथों लूँ। आपकी वह घोर तपस्या कहाँ गई? मुझे देखिए, मजे से खेलता भी रहा और दर्जे में अव्वल भी हूँ। लेकिन वे इतने दु:खी और उदास थे कि मुझे उनसे दिली हमदर्दी हुई और उनके घाव पर नमक छिड़कने का विचार ही लज्जास्पद जान पड़ा। हाँ, अब अपने ऊपर मुझे कुछ अभिमान हुआ और आत्माभिमान भी

बढ़ा। भाई साहब का रौब मुझ पर न रहा। आजादी से खेल-कूद में शरीक होने लगा। दिल मजबूत था। अगर उन्होंने फिर मेरी फजीहत की, तो साफ कह दूँगा—आपने अपना खून जलाकर कौन-सा तीर मार लिया। मैं तो खेलते-कूदते दर्जे में अव्वल आ गया। जबान से वह हेकड़ी जताने का साहस न होने पर भी मेरे रंग-ढंग से साफ जाहिर होता था कि भाई साहब का वह आतंक मुझ पर नहीं है। भाई साहब ने इसे भाँप लिया—उनकी सहज बुद्धि बड़ी तीव्र थी और एक दिन जब मैं भोर का सारा समय गुल्ली-डण्डे की भेंट करके ठीक भोजन के समय लौटा तो भाई साहब ने मानो तलवार खींच ली और मुझ पर टूट पड़े—"देखता हूँ कि इस साल पास हो गये और दर्जे में अव्वल आ गये, तो तुम्हें दिमाग हो गया है। मगर भाई जान, घमण्ड तो बड़े-बड़ों का नहीं रहा, तुम्हारी क्या हस्ती है? इतिहास में रावण का हाल तो पढ़ा ही होगा। उसके चरित्र से तुमने कौनसा उपदेश लिया? या यों ही पढ़ गये? महज़ इम्तहान पास कर लेना कोई चीज नही, असल चीज़ है बुद्धि का विकास। जो कुछ पढ़ो उसका अभिप्राय समझो। रावण भूमण्डल का स्वामी था। ऐसे राजाओं को चक्रवर्ती कहते हैं। आजकल अंग्रेज़ों के राज्य का विस्तार बहुत बढा हुआ है, पर इन्हें चक्रवर्ती नहीं कह सकते। संसार में अनेक राष्ट्र अग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार नहीं करते। बिल्कुल स्वाधीन है। रावण चक्रवर्ती राजा था, संसार के सभी महीप उसे कर देते थे। बड़े-बड़े देवता उसकी गुलामी करते थे। आग और पानी के देवता भी उसके दास थे, मगर उसका अन्त क्या हुआ? घमण्ड ने उसका नाम-निशान तक मिटा दिया, कोई उसे एक चुल्लू पानी देने वाला तक न बचा। आदमी और जो कुकर्म चाहे करे, पर अभिमान न करे, इतराये नही। अभिमान किया और दीन-दुनिया दोनों से गया। शैतान का हाल भी पढ़ा होगा। उसे यह अभिमान हुआ कि

ईश्वर का उससे बढ़कर सच्चा भक्त कोई है ही नहीं। अन्त में यह हुआ कि स्वर्ग से नरक में ढकेल दिया गया। शाहे रूम ने भी एक बार अहंकार किया था। भीख माँग-माँग कर मर गया। तुमने अभी केवल एक दर्जा पास किया है, और अभी से तुम्हारा सिर फिर गया, तब तो तुम आगे बढ चुके। यह समझ लो कि तुम अपनी मेहनत से नही पास हुए, अन्धे के हाथ बटेर लग गई। मगर बटेर केवल एक बार हाथ लग सकती है, बार-बार नही लग सकती। कभी-कभी गुल्ली-डण्डे में भी अन्धा-चोट निशाना पड़ जाता है। इससे कोई सफल खिलाड़ी नही हो जाता। सफल खिलाड़ी वह है जिसका कोई निशाना खाली न जाय। मेरे फेल होने पर मत जाओ। मेरे दर्जे में आओगे, तो दाँतो पसीना आयेगा, जब अलजबरा और जॉमेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे, और इंगलिस्तान का इतिहास पढना पड़ेगा। बादशाहों के नाम याद रखना आसान नही। आठ-आठ हेनरी हो गुजरे हैं। कौनसा काण्ड किस हेनरी के समय में हुआ, क्या यह याद कर लेना आसान समझते हो ? हेनरी सातवें की जगह हेनरी आठवाँ लिखा और सब नम्बर गायब ! सफाचट ! सिफर भी न मिलेगा, सिफर भी ! हो किस खयाल में ? दरजनों तो जेम्स हुए हैं, दरजनो विलियम, कौड़ियो चार्ल्स ! दिमाग चक्कर खाने लगता है। आँधी रोग हो जाता है। इन अभागों को नाम भी न जुड़ते थे। एक ही नाम के पीछे दोयम, सोयम, चहारम, पंचम लगाते चले गये। मुझसे पूछते तो दस लाख नाम बतला देता। जामेट्री तो बस खुदा की पनाह ! अ ब ज की जगह अ ज ब लिख दिया तो सारे नम्बर कट गए। कोई इन निर्दयी मुमतहिनों से नहीं पूछता कि आखिर अ ब ज और अ ज ब में क्या फर्क है। और व्यर्थ की बात के लिए क्यों छात्रों का खून करते हैं ? दाल-भात-रोटी खाई या भात-दाल-रोटी खाई, इसमें क्या रखा है, मगर इन परीक्षकों को क्या परवाह वे तो वही देखते

है जो पुस्तक में लिखा रहता है। चाहते है कि लड़के अक्षर-अक्षर रट डालें और इसी रटन का नाम शिक्षा रख छोड़ा है, और आखिर इन बे-सिर-पैर की बातों के पढने से फायदा। इस रेखा परवह लम्ब गिरा दो, तो आधार लम्ब से दुगुना होगा, पूछिए इससे प्रयोजन ? दुगुना नही चौगुना हो जाय, या आधा ही रहे, मेरी बला से; लेकिन परीक्षा में पास होना है, तो यह सब खुराफात याद करनी पड़ेगी। कह दिया—'समय की पाबन्दी' पर एक निबन्ध लिखो, जो चार पन्नों से कम न हो। अब आप कापी सामने खोले, कलम हाथ में लिये, उनके नाम को रोइए। कौन नही जानता कि समय की पाबन्दी बहुत अच्छी बात है, इससे आदमी के जीवन मे संयम आ जाता है, दूसरों का उस पर स्नेह होने लगता है और उसके कारोबार में उन्नति होती है। लेकिन इस जरा-सी बात पर चार पन्ने कैसे लिखे ? जो बात एक वाक्य में कही जा सके, उसे चार पन्नों में लिखने की जरूरत ? मै तो इसे हिमाकत कहता हूँ। यह तो समय की किफायत नही, बल्कि उसका दुरुपयोग है कि व्यर्थ में किसी बात को ठूँस दिया जाय। हम चाहते है कि आदमी को जो कुछ कहना हो, चटपट कह दे और अपनी राह ले, मगर नहीं, आपको चार पन्ने रंगने पड़ेगे, चाहे जैसे लिखिए। और पन्ने भी फुलस्केप के आकार के ! यह छात्रों पर अत्याचार नहीं तो और क्या है ? अनर्थ तो यह है कि कहा जाता है कि 'समय की पाबदी' पर संक्षेप में एक नोट लिखो जो चार पन्नो से कम न हो। ठीक 'सक्षेप' में तो चार पन्ने हुए, नही शायद सौ-दो-सौ पन्ने लिखवाते। तेज भी दौडिये और धीरे भी। है उल्टी बात या नही ? बालक भी इतनी-सी बात समझ सकता है, लेकिन इन अध्यापको को इतनी तमीज भी नहीं। उस पर दावा है कि हम अध्यापक है। मेरे दर्जे में आओगे लाला तो ये सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे, और तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा। दर्जे में अव्वल आ गये, तो जमीन पर पाँव नही रखते। इसलिए मेरा कहना मानिये। लाख

फेल हो गया हूँ, लेकिन तुमसे बड़ा हूँ। ससार का मुझे तुमसे ज्यादा अनुभव है। जो कुछ कहता हूँ उसे गिरह बाँधिये, नहीं पछताइएगा।"

स्कूल का समय निकट था, नही ईश्वर जाने यह उपदेश-माला कब समाप्त होती। भोजन आज मुझे निःस्वाद-सा लग रहा था। जब पास होने पर यह तिरस्कार हो रहा है, तो फेल हो जाने पर तो शायद प्राण ही ले लिये जाये। भाई साहब ने अपने दर्जे की पढ़ाई का जो भयंकर चित्र खीचा था, उसने मुझे भयभीत कर दिया। कैसे स्कूल छोड़कर घर नही भागा, यही ताज्जुब है, लेकिन इतने तिरस्कार पर भी पुस्तकों मे मेरी अरुचि ज्यों-की-त्यो बनी रही। खेल-कूद का कोई अवसर हाथ से न जाने देता। पढ़ता भी था, मगर बहुत कम; बस इतना कि रोज का टास्क पूरा हो जाय और दर्जे में जलील न होना पड़े। अपने ऊपर जो विश्वास पैदा हुआ था वह फिर लुप्त हो गया, और फिर चोरों का-सा जीवन कटने लगा।

फिर सालाना इम्तहान हुसा, और कुछ ऐसा सयोग हुआ कि मै फिर पास हुआ और भाई साहब फिर फेल हो गए। मैंने बहुत मेहनत नही की; पर न जाने कैसे दर्जे में अव्वल आ गया। मुझे खुद अचरज हुआ। भाई साहब ने प्राणांतक परिश्रम किया था। कोर्स का एक-एक शब्द चाट गये थे। दस बजे रात तक इधर, चार बजे भोर से उधर, छः से साढ़े नौ तक स्कूल जाने के पहले। मुद्रा कान्तिहीन हो गई थी, मगर बेचारे फेल हो गये। मुझे उन पर दया आती थी। नतीजा सुनाया गया तो वे रो पड़े और मैं भी रोने लगा। अपने पास होने की खुशी आधी हो गई।

मैं फेभी ल हो गया होता तो भाई साहब को इतना दु.ख न होता; लेकिन विधि की बात कौन टाले ?

मेरे और भाई साहब के बीच में अब केवल एक दर्जे का अन्तर और रह गया। मेरे मन मे एक कुटिल भावना और उदय हुई कि कही भाई साहब एक साल और फेल हो जायँ तो मै उनके बराबर हो जाऊँ, फिर वे किस आधार पर मेरी फजीहत कर सकेगे, लेकिन मैंने इस कमीने विचार को दिल से बलपूर्वक निकाल डाला, आखिर वे मुझे मेरे हित के विचार से ही तो डॉटते है। मुझे उस वक्त अप्रिय लगता अवश्य, मगर यह शायद उनके उपदेशों का ही असर हो कि मैं दनादन पास हो जाता हूँ और इतने अच्छे नम्बरो से। अब भी भाई साहब बहुत कुछ नर्म पड़ गये थे। कई बार मुझे डाँटने का अवसर पाकर भी उन्होंने धीरज से काम लिया, शायद अब वह खुद समझने लगे थे कि मुझे डाँटने का अधिकार उन्हें नही रहा था, या रहा तो बहुत कम। मेरी स्वच्छन्दता भी बढ़ी, मैं उनकी सहिष्णुता का अनुचित लाभ उठाने लगा। मुझे कुछ ऐसी धारणा हुई कि मै तो पास हो ही जाऊँगा पढ़ूँ, या न पढ़ूँ मेरी तकदीर बलवान है; इसलिये भाई साहब के डर से जो थोड़ा-बहुत पढ लिया करता था वह भी बन्द हुआ। मुझे कनकौवे उड़ाने का नया शौक पैदा हो गया था, और अब सारा समय पतगबाजी ही की भेंट होता था; फिर भी मैं भाई साहब का अदब करता था, और उनकी आँख बचाकर कनकौवे उड़ाता था। माँझा देना, कन्ने बाँधना, पतंग टूर्नामिंट की तैयारियाँ आदि समस्याएँ सब गुप्त रूप से हल की जाती थी। मैं भाई साहब को यह सन्देह न करने देना चाहता था कि उनका सम्मान और लिहाज मेरी नजरों में कम हो गया है।

एक दिन सन्ध्या समय होस्टल से दूर मैं एक कनकौवा लूटने बेतहाशा दौड़ा जा रहा था। आँखें आसमान की ओर थीं और

मन उस आकाशगामी पथिक की ओर, जो मन्द गति से झूमता पतन की ओर चला आ रहा था, मानो कोई आत्मा स्वर्ग से निकल कर विरक्त मन से नये संस्कार ग्रहण करने जा रही हो। बालकों की एक पूरी सेना लम्बे और झाडदार बाँस लिये उसका स्वागत करने को दौड़ी आ रही थी। किसी को अपने आगे पीछे की खबर न थी, सभी मानो उस पतंग के साथ ही आकाश में उड़ रहे थे, जहां सब कुछ समतल है; न मोटरकारें है, न ट्राम, न गाड़ियाँ।

सहसा भाई साहब से मेरी मुठभेड़ हो गई, जो शायद बाजार से लौट रहे थे। उन्होंने वही से मेरा हाथ पकड़ लिया और उग्र भाव से बोले—"इन बाज़ारी लौडों के साथ धेले के कनकौवे के लिये दौड़ते हुए तुम्हें शर्म नही आती ? तुम्हे इसका भी कुछ लिहाज नहीं कि अब नीची जमात मे नहीं हो, बल्कि आठवी जमात में आ गये हो और मुझसे केवल एक दर्जा नीचे हो। आखिर आदमी को कुछ तो अपनी पोज़ीशन का खयाल करना चाहिए। एक जमाना था कि लोग आठवाँ दर्जा पास करके नायब तहसीलदार हो जाते थे। मैं कितने ही मिडिलचियों को जानता हूँ जो आज अव्वल दर्जे के डिप्टी मजिस्ट्रेट या सुपरिण्टेण्डेण्ट हैं। कितने ही आठवी जमाअत वाले हमारे लीडर और समाचारपत्रों के सम्पादक है। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी मातहती में काम करते है और तुम उसी आठवे दर्जे मे आकर बाजारी लौडों के साथ कनकौवे के लिए दौड़ रहे हो। मुझे तुम्हारी इस कमअक्ली पर दुःख होता है। तुम जहीन हो, इसमें शक नही। लेकिन वह जहन किस काम का, जो हमारे आत्म-गौरव की हत्या कर डाले, तुम अपने दिल में समझते होगे कि मैं भाई साहब से महज़ एक दर्जा नीचे हूँ, और अब उन्हें मुझको कुछ कहने का हक नहीं है; लेकिन यह तुम्हारी गलती है। मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और चाहे आज तुम मेरी ही जमाअत में आ जाओ—और

परीक्षकों का यही हाल रहा, तो निस्सन्देह अगले साल तुम मेरे समकक्ष हो जाओगे, और शायद एक साल बाद मुझसे आगे भी निकल जाओ—लेकिन मुझ में और तुम में जो पाँच साल का अन्तर है, उसे तुम क्या, खुदा भी नही मिटा सकता। मै तुमसे पॉच साल बड़ा हूँ और हमेशा रहूँगा। मुझे दुनिया का और जिन्दगी का जो तजुर्बा है, तुम उसकी बराबरी नही कर सकते, चाहे तुम एम० ए० और डी० लिट्० और डी० फिल० ही क्यों न हो जाओ। समझ किताबे पढने से नही आती, दुनिया देखने से आती है। हमारी माँ ने कोई दर्जा नही पास किया और दादा भी शायद पॉचवी-छठी जमाअत के आगे नही गये, लेकिन हम दोनों चाहे सारी दुनिया की विद्या पढ ले, अम्मा और दादा को हमें समझाने और सुधारने का अधिकार हमेशा रहेगा। केवल इसलिये नही कि वे हमारे जन्मदाता हैं बल्कि इसलिए कि उन्हें दुनिया का हमसे ज्यादा तजुर्बा है और रहेगा। अमरीका में किस तरह की राज्य-व्यवस्था है और आठवे हेनरी ने कितने ब्याह किये और आकाश में कितने नक्षत्र है, ये बातें चाहे उन्हें मालूम न हों, लेकिन हजारो ऐसी बाते है, जिनका ज्ञान उन्हें हमसे और तुमसे ज्यादा है। दैव न करे, आज मै बीमार हो जाऊँ, तो तुम्हारे हाथ-पॉव फूल जायेंगे। दादा को तार देने के सिवाय तुम्हें और कुछ न सूझेगा, लेकिन तुम्हारी जगह दादा हो, तो किसी को तार न दे, न घबराये, न बदहवास हों। पहले खुद मर्ज पहचान कर इलाज करेगे, उसमे सफल न हुए, तो किसी डाक्टर को बुलाए गे। बीमारी तो खैर बड़ी चीज है, हम-तुम तो इतना भी नही जानते कि महीने भर का खर्च महीना भर कैसे चले। जो कुछ दादा भेजते है, उसे हम बीस-बाईस दिन तक खर्च कर डालते है, और फिर पैसे-पैसे को मुहताज हो जाते है। नाश्ता बन्द हो जाता है, धोबी और नाई से मुँह चुराने लगते हैं; लेकिन जितना आज हम और तुम खर्च कर रहे है उसके आधे मे दादा ने

अपनी उम्र का बड़ा भाग इज्जत और नेकनामी के साथ निभाया है और एक कुटुम्ब का पालन किया है जिसमें सब मिलाकर नौ आदमी थे। अपने हैडमास्टर साहब ही को देखो, एम० ए० है कि नहीं, और यहाँ के एम० ए० नहीं, आक्सफोर्ड के। एक हजार रुपये पाते हैं, लेकिन उनके घर का इन्तज़ाम कौन करता है? उनकी बूढी माँ। हैडमास्टर साहब की डिग्री यहाँ बेकार हो गई है। पहले खुद घर का इन्तज़ाम करते थे। खर्च पूरा न पड़ता था, कर्जदार रहते थे। जब से उनकी माताजी ने प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया है, जैसे घर में लक्ष्मी आ गई है। तो भाई जान, यह ग़रूर दिल से निकाल डालो कि तुम मेरे समीप आ गये हो, और अब स्वतन्त्र हो। मेरे देखते तुम बेराह न चलने पाओगे। अगर तुम यों न मानोगे तो मैं (थप्पड़ दिखाकर) इसका प्रयोग भी कर सकता हूँ। मै जानता हूँ, तुम्हें मेरी बाते जहर लग रही हैं।"

मैं उनकी इस युक्ति से नतमस्तक हो गया। मुझे आज सच-मुच अपनी लघुता का अनुभव हुआ और भाई साहब के प्रति मेरे मन मे श्रद्धा उत्पन्न हुई। मैंने सजल आँखों से कहा—"हरगिज़ नही। आप जो कुछ फरमा रहे है, वह बिल्कुल सच है, और आपको उसके कहने का अधिकार है।"

भाई साहब ने मुझे गले लगा लिया और बोले—"मै कनकौवे उड़ाने को मना नही करता। मेरा जी भी ललचाता है, लेकिन करूँ क्या, खुद बेराह चलूँ, तो तुम्हारी रक्षा कैसे करूँ? यह कर्त्तव्य भी तो मेरे सिर है।"

संयोग से उसी वक्त एक कटा हुआ कनकौवा हमारे ऊपर से गुजरा। उसकी डोर लटक रही थी। लड़कों का एक गोल पीछे-पीछे दौड़ा चला आता था। भाई साहब लम्बे थे ही, उछलकर उसकी डोर पकड़ ली और बेतहाशा होस्टल की तरफ दौड़े। मैं पीछे-पीछे दौड़ रहा था।

—प्रेमचन्द

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजी की रामायण का सारे हिन्दुस्तान के साहित्यिक इतिहास में एक विशेष स्थान है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है। अत: राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका मान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिन्दुस्तान के सात-आठ करोड़ लोगों के लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है, नित्य परिचित और धर्म-जाग्रति का एकमात्र आधार है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी वह बेजोड़ कही जा सकती है। और राम-भक्ति का प्रचार करने में 'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्' इस न्याय से वह अपने गुरु बाल्मीकि रामायण को भी पराजय का आनन्द देने वाली है इसलिए भक्ति-मार्गीय दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपना सानी नहीं रखता। तीनों दृष्टियाँ एकत्र करके विचार करने पर अनन्वयालंकार का उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण युद्ध जिस तरह राम-रावण के युद्ध-जैसा था, उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण जैसी ही है।

एक तो रामायण का अर्थ ही है मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र का चरित्र, जिस पर तुलसीदास ने उसे विशेष मर्यादा से लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकों के हाथ में देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसों का वर्णन नैतिक मर्यादा का ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति पर भी नीति की मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदास की जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसी की भक्ति संयमित है। इस

संयमित भक्ति और उद्दाम भक्ति का अन्तर मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का अन्तर है। साथ ही, तुलसीदासजी का अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायण का वाल्मीकि-रामायण की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण से अधिक सम्बन्ध है। अधिकाश वर्णनों पर, खासकर भक्ति के उद्गारों पर, भागवत की छाप पड़ी है, गीता की छाप तो है ही। महाराष्ट्र के भागवत-धर्मीय सन्तों के ग्रन्थों से जिनका परिचय है उन्हें तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नहीं मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामा को जिस तरह अपने गांव में वापस आने पर मालूम हुआ कि कहीं मैं फिर से द्वारकापुरी में लौट कर तो नहीं आ गया, उसी तरह तुलसीदासजी की रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय सन्त-समाज के वचनों से परिचित पाठकों को 'हम कहीं अपनी पूर्व परिचित सन्त-वाणी तो नही पढ रहे हैं', ऐसी शंका हो सकती है। उसमें भी एकनाथजी महाराज की याद विशेष रूप से आती है। एकनाथ के भागवत और तुलसीदासजी की रामायण इन दोनों में विशेष विचार-साम्य है। एकनाथ ने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवत में उतरी है। एकनाथ के भागवत ने ही रानाडे को पागल बना दिया। एकनाथ कृष्ण-भक्त थे, तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथ ने कृष्ण-भक्ति की मस्ती को पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्ण-भक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यन्त मर्यादाशील। इस कारण इस विषय में उन्हें तुलसीदासजी से दो नम्बर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजी की मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकांड में है। उसी काण्ड में उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्या-

काण्ड में भरत की भूमिका अद्भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदास की ध्यानमूर्त्ति थे। इस ध्यानमूर्ति को चुनने मे उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनो ही राम के अनन्य भक्त थे, लेकिन एक को राम की सगति का लाभ हुआ और दूसरे को वियोग का। पर, वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोग मे ही भरत ने सगति का अनुभव पाया। हमारे नसीब में परमात्मा के वियोग मे रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मण के जैसा सगति का भाग्य हमारा कहाँ! इसलिए वियोग को भाग्यरूप में किस तरह बदल सकते है, इसे समझने में भरत का आदर्श ही हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक सगति की अपेक्षा मानसिक सगति का महत्त्व अधिक है। शरीर से समीप रहकर भी मनुष्य मन से दूर रह सकता है। दिन-रात नदी का पानी ओढ़े सोया हुआ पत्थर गीलेपन से बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। उल्टे शारीरिक वियोग मे ही मानसिक सयोग हो सकता है, उसमे संयम की परीक्षा है। भक्ति की तीव्रता वियोग से बढती ही है। आनन्द की दृष्टि से देखे तो साक्षात् स्वराज्य की अपेक्षा स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्न का आनन्द कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करने की रसिकता हम मे होनी चाहिए। भक्तो में यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नही माँगते, वे भक्ति में ही खुश रहते है। भक्ति का अर्थ बाहर का वियोग स्वीकार कर अन्दर से एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नही, परम भाग्य है—मुक्ति से भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरत का यह भाग्य था। लक्ष्मण का भाग्य भी बड़ा था। पर एक तो हमारी किस्मत में वह है नही और फिर कुछ भी कहिये, वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अगूर खट्टे है, सिर्फ यही नही है, किन्तु उपवास मीठा है, यह भी है। भरत के भाग्य मे उपवास की मिठास है।

रामायण मे रामसखा भरत, महाभारत में शकुन्तला का पराक्रमी भरत और भागवत में जीवन्मुक्त जड़ भरत, ये तीन भरत प्राचीन भारत में विख्यात है। हिन्दुस्तान को 'भारतवर्ष' संज्ञा शकुन्तला के वीर भरत से मिली, ऐसा इतिहासज्ञों का मत है; एकनाथ ने ज्ञानी जड़ भरत से यह मिली, ऐसा माना है। सम्भव है, तुलसीदासजी को लगता हो कि यह राम-भक्त भरत से मिली है। पर चाहे जो हो, आज के वियोगी भरत के लिए भरत की वियोग-भक्ति का आदर्श सब प्रकार से अनुकरणीय है। तुलसीदासजी ने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभव से उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

—**विनोबा भावे**

भारतीय संस्कृति

कोई विदेशी जो भारत से बिल्कुल अपरिचित हो, एक छोर से दूसरे छोर तक सफर करे तो उसको इस देश में इतनी विभिन्नताएँ देखने में आएँगी कि वह कह उठेगा कि यह एक देश नही, बल्कि कई देशों का एक समूह है, जो एक-दूसरे से बहुत बातों में और विशेष करके ऐसी बातों मे, जो आसानी से आँखो के सामने आती है, बिल्कुल भिन्न है। प्राकृतिक विभिन्नताएँ भी इतनी और इतने प्रकारों की और इतनी गहरी नजर आएँगी जो किसी भी एक महाद्वीप के अन्दर ही नज़र आ सकती है। हिमालय की बर्फ से ढकी पहाड़ियाँ एक छोर पर मिलेंगी और जैसे-जैसे वह दक्खिन की ओर बढ़ेगा, गगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र से प्लावित समतलों को छोड़कर फिर विन्ध्य, अरावली, सतपुड़ा, सह्याद्रि, नीलगिरि की श्रेणियों के बीच समतल रग-बिरंगे हिस्से देखने में आएँगे। पश्चिम से पूर्व तक जाने मे भी उसे इसी प्रकार की विभिन्नताएँ देखने को मिलेगी। हिमालय की सर्दी के साथ-साथ जो साल मे कभी भी मनुष्य को गर्म कपड़ों से और आग से छुटकारा नही देती, समतल प्रान्तों की जलती हुई लू और कन्याकुमारी का वह सुखद मौसम, जिसमें न कभी सर्दी होती है और न गर्मी, देखने को मिलेगा। अगर असम की पहाड़ियों मे वर्ष में तीन सौ इंच वर्षा मिलेगी तो जैसलमेर की तप्त भूमि भी मिलेगी जहां साल में दो-चार इच भी वर्षा नहीं होती। कोई ऐसा अन्न नही जो यहाँ उत्पन्न न किया जाता हो। कोई ऐसा फल नही जो यहाँ पैदा न

किया जा सके। कोई ऐसा खनिज पदार्थ नही जो यहाँ के भू-गर्भ में न पाया जाता हो और कोई ऐसा वृक्ष अथवा जानवर नही जो यहाँ के फैले हुए जंगलों में न मिले। यदि इस सिद्धान्त को देखना हो कि आबहवा का असर इन्सान के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और शरीर और मस्तिष्क पर कैसा पड़ता है तो उसका जीता-जागता सबूत भारत मे बसने वाले भिन्न-भिन्न राज्यों के लोग देते है। इसी तरह मुख्य-मुख्य भाषाएँ भी कई प्रचलित है और बोलियों की तो कोई गिनती ही नही क्योंकि यहाँ एक कहावत मशहूर है ;

"कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी।"

भिन्न-भिन्न धर्मों के मानने वाले भी जो सारी दुनिया के सभी देशों में बसे हुए है, यहाँ भी थोड़ी-बहुत सख्या में पाये जाते हैं और जिस तरह यहाँ की बोलियो की गिनती नहीं, उसी तरह यहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों के सम्प्रदायों की भी गिनती आसान नहीं। इन विभिन्नताओं को देखकर अगर अपरिचित आदमी घबराकर कह उठे कि यह एक देश नहीं, अनेक देशों का एक समूह है; यह एक जाति नहीं अनेक जातियों का समूह है; तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि ऊपर से देखने वाले को, जो गहराई में नहीं जाता, विभिन्नता ही देखने में आयेगी। पर विचार करके देखा जाये तो इन विभिन्नताओं की तह में एक ऐसी समता और एकता फैली हुई है जो अन्य विभिन्नताओं को ठीक उसी तरह पिरो लेती है, और पिरोकर एक सुन्दर समूह बना देती है, जैसे रेशमी धागा भिन्न-भिन्न प्रकार की और विभिन्न रंगों की सुन्दर मणियों अथवा फूलों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है, जिसका प्रत्येक मणि या फूल दूसरों से न तो अलग है और न हो सकता है और केवल अपनी सुन्दरता से लोगों को मोहता ही नहीं है बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है और उसी तरह

अपनी सुन्दरता से दूसरो को भी सुशोभित करता है। यह केवल एक काव्य की भावना नही है बल्कि एक ऐतिहासिक सत्य है जो हमारे बरसों से अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए अनेकानेक जल-प्रपातों का और प्रवाहों का सगमस्थल बनकर एक प्रकाण्ड और प्रगाढ समुद्र के रूप में भारत मे व्याप्त है जिसे भारतीय सस्कृति का नाम दे सकते हैं। इन अलग-अलग नदियों के उद्गम भिन्न-भिन्न हो सकते है और रहे है। इनकी धाराएँ भी अलग-अलग रही है और प्रदेश के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न, फल-फूल पैदा करती रही है पर सब मे एक ही शुद्ध, सुन्दर, स्वस्थ और शीतल जल बहता रहता है जो उद्गम और सगम मे एक ही हो जाता है।

यह एक नैतिक और आध्यात्मिक स्रोत है जो अनन्त काल से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस सारे देश में बहता रहा है और कभी-कभी मूर्त्त रूप होकर हमारे सामने आता रहा है। यह हमारा सौभाग्य रहा है कि हमने ऐसे ही एक मूर्त्त रूप को अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-रोते भी देखा है और जिसने अमरतत्त्व की याद दिलाकर हमारी सूखी हड्डियों में नई मज्जा डाल हमारे मृतप्राय शरीर में नये प्राण फूँके और मुर्झाये हुए दिलों को फिर खिला दिया। वह अमरतत्त्व सत्य और अहिंसा का है जो केवल इसी देश के लिए नहीं आज, मानव-मात्र के जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हो गया है। हम इस देश में प्रजातन्त्र की स्थापना कर चुके हैं; जिसका अर्थ है व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता, जिसमें वह अपना पूरा विकास कर सके और साथ ही सामूहिक और सामाजिक एकता भी। व्यक्ति और समाज के बीच में विरोध का आभास होता है। व्यक्ति अपनी उन्नति और विकास चाहता है और यदि एक को उन्नति और विकास दूसरे की उन्नति और विकास में बाधक हो तो संघर्ष पैदा होता है और यह संघर्ष तभी दूर हो सकता है जब सबके विकास के पथ अहिंसा के हों। हमारी सारी संस्कृति

का मूलाधार इसी अहिंसा-तत्त्व पर स्थापित रहा है। जहाँ-जहाँ हमारे नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन आया है, अहिंसा को ही उनमें मुख्य स्थान दिया गया है। अहिंसा का दूसरा नाम या दूसरा रूप त्याग है और हिंसा का दूसरा रूप या दूसरा नाम स्वार्थ, जो बहुत करके भोग के रूप मे हमारे सामने आता है। पर हमारी सभ्यता ने तो भोग भी त्याग से ही निकाला है और भोग भी त्याग में ही पाया है। श्रुति कहती है—'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'—इसी के द्वारा हम व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के विरोध, व्यक्ति और समाज के बीच विरोध, समाज और समाज के बीच के विरोध, देश और देश के बीच के विरोध को मिटाना चाहते है। हमारी सारी नैतिक चेतना इसी तत्त्व से ओत-प्रोत है। इसलिए हमने भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को स्वच्छन्दतापूर्वक अपने-अपने रास्ते बहने दिया। भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को स्वतन्त्रतापूर्वक पनपने और पसरने दिया। भिन्न-भिन्न भाषाओ को विकसित और प्रस्फुटित होने दिया। भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को अपने में अभिन्न भाव से मिल जाने दिया। भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियों को अपने में मिलाया और अपने को उनमें मिलने दिया और देश और विदेश में एक सूत्रता तलवार के जोर से नही बल्कि प्रेम और सौहार्द से स्थापित की। दूसरों के हाथों और पैरों पर, घर और सम्पत्ति पर ज़बरदस्ती कब्ज़ा नही किया; उनके हृदयों को जीता और इसी वजह से प्रभुत्व जो चरित्र और चेतना का प्रभुत्व है, आज भी बहुत अंश में कायम है, अब हम स्वयं उस चेतना को बहुत अंशों में भूल गये हैं और भूलते जा रहे है।

—राजेन्द्रप्रसाद

भय

किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भकारक मनोविकार होता है, उसी को भय कहते हैं। क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिये आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिये। क्रोध दुःख के कारण के स्वरूप-बोध के बिना नहीं होता। यदि दुःख का कारण चेतन होगा और यह समझा जायगा कि उसने जान-बूझकर दुःख पहुँचाया है, तभी क्रोध होगा। पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नहीं, इतना भर मालूम होना चाहिए, कि दुःख या हानि पहुँचेगी। यदि कोई ज्योतिषी किसी गँवार से कहे कि "कल तुम्हारे हाथ-पाँव टूट जाएँगे", तो उसे क्रोध न आयेगा, भय होगा। पर उसी से यदि कोई दूसरा आकर कहे कि "कल अमुक-अमुक तुम्हारे हाथ-पैर तोड देंगे", तो वह तुरन्त त्यौरी बदलकर कहेगा कि "कौन हैं हाथ-पैर तोड़ने वाले? देख लूँगा।"

भय का विषय दो रूपों में सामने आता है—असाध्य रूप में और साध्य रूप में। असाध्य विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असम्भव हो या असम्भव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रक्खा जा सकता हो। दो मनुष्य एक पहाड़ी नदी के किनारे बैठे या आनन्द से बात-चीत करते चले जा रहे थे। इतने में सामने शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। यदि वे दोनों उठकर भागने, छिपने या पेड़ पर चढ़ने आदि का प्रयत्न करें तो बच सकते है। विषय के साध्य या असाध्य होने की

धारणा परिस्थिति की विशेषता के अनुसार तो होती ही है, पर बहुत-कुछ मनुष्य की प्रकृति पर भी अवलम्बित रहती है। क्लेश के कारण का ज्ञान होने पर उसकी अनिवार्यता का निश्चय अपनी विवशता या अक्षमता की अनुभूति के कारण होता है। यदि यह अनुभूति कठिनाइयों और आपत्तियों को दूर करने के अनभ्यास या साहस के अभाव के कारण होती है, तो मनुष्य स्तम्भित हो जाता है और उसके हाथ-पाँव नहीं हिल सकते। पर कड़े दिल का यह साहसी आदमी पहले तो जल्दी डरता नहीं और डरता भी है तो सँभलकर अपने बचाव के उद्योग में लग जाता है।

भय जब स्वभावगत हो जाता है तब सहायता या भीरुता कहलाता है और भारी दोष माना जाता है, विशेषतः पुरुषो में। स्त्रियों की भीरुता तो उनकी लज्जा के समान ही रसिको के मनो-रंजन की वस्तु रही है। पुरुषों की भीरुता की पूरी निन्दा होती है। ऐसा जान पडता है कि बहुत पुराने जमाने से पुरुषो ने न डरने का ठेका ले रखा है। भीरुता के संयोजक अवयवो में क्लेश सहने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास प्रधान है। शत्रु का सामना करने से भागने का अभिप्राय यही होता है कि भागनेवाला शारीरिक पीड़ा नही सह सकता तथा अपनी शक्ति द्वारा उस पीड़ा से अपनी रक्षा का विश्वास नहीं रखता। यह तो बहुत पुरानी चाल की भीरुता हुई। जीवन के और अनेक व्यापारो में भी भीरुता दिखाई देती है। अर्थ-हानि के भय से बहुत व्यापारी कभी-कभी किसी विशेष व्यवस्था में हाथ नही डालते, परास्त होने के भय से बहुत से पण्डित कभी-कभी शास्त्रार्थ से मुँह चुराते हैं। सब प्रकार की भीरुता की तह में सहन करने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास छिपा रहता है। भीरु व्यापारी में

अर्थ-हानि सहने की अक्षमता और अपने व्यवसाय-कौशल पर अविश्वास तथा भीरु पण्डित में मान-हानि सहने की अक्षमता और अपने विद्या-बुद्धि-बल पर अविश्वास निहित है।

एक ही प्रकार की भीरुता ऐसी दिखाई पड़ती है जिसकी प्रशसा होती है। वह धर्म-भीरुता है, पर हम तो उसे भी कोई बड़ी प्रशंसा की बात नही समझते। धर्म से डरने वालो की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होने वाले हमे अधिक धन्य जान पड़ते है। जो किसी बुराई से यही समझकर पीछे हटते है कि उसके करने में अधर्म होगा, उनकी अपेक्षा वे कही श्रेष्ठ हैं, जिन्हे बुराई अच्छी ही नही लगती।

दु:ख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी संभावना मात्र के अनुमान से जो आवेग-शून्य भय होता है, उसे आशंका कहते है। उसमे वैसी आकुलता नहीं होती। उसका सचार कुछ धीमा, पर अधिक काल तक रहता है। घने जंगल से होकर जाता हुआ यात्री चाहे रास्ते भर इस आशंका मे रहे कि कही चीता न मिल जाए, पर वह बराबर चल सकता है। यदि उसे असली भय हो जाएगा, तो वह या तो लौट जायगा अथवा एक पैर आगे न रखेगा। दु:खात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझनी चाहिए जो सुखात्मक भावों में आशा की। अपने द्वारा कोई भयंकर काम किये जाने की कल्पना या भावना मात्र से भी क्षणिक स्तम्भ के रूप मे एक प्रकार के भय का अनुभव होता है। जैसे, कोई किसी से कहे कि "इस छत पर से कूद जाओ", तो कूदना और न कूदना उसके हाथ में होते हुए भी वह कहेगा कि "डर मालूम होता है।" पर यह डर भी पूर्ण भय नहीं है।

क्रोध का प्रभाव दु:ख के कारण पर डाला जाता है, इससे उसके द्वारा दु:ख का निवारण यदि होता है, तो सब दिन के लिए

या बहुत दिनों के लिए। भय द्वारा बहुत सी अवस्थाओं में यह बात नहीं हो सकती। ऐसे सज्ञान प्राणियों के बीच, जिनमें भाव बहुत काल तक संचित रहते हैं और ऐसे उन्नत समाज में जहाँ एक-एक व्यक्ति की पहुंच और परिचय का विस्तार बहुत अधिक होता है, प्रायः भय का फल भय के सचार-काल तक ही रहता है। जहाँ वह भय भूला कि आफत आई। यदि कोई क्रूर मनुष्य किसी बात पर आपसे बुरा मान गया और आपको मारने दौड़ा, तो उस समय भय की प्रेरणा से आप भागकर अपने को बचा लेंगे। यह सम्भव है कि उस मनुष्य का क्रोध जो आप पर था, उसी समय दूर न हो, बल्कि कुछ दिन के लिए वैर के रूप में टिक जाये, तो उसके लिए आपके सामने फिर आना कोई बड़ी बात न होगी। प्राणियो की असभ्य दशा में ही भय से अधिक काम निकलता है जबकि समाज का ऐसा गहरा संगठन नही होता कि बहुत से लोगों को एक-दूसरे का पता और उनके विषय मे जानकारी रहती हो।

जगली मनुष्यों के परिचय का विस्तार बहुत थोड़ा होता है। बहुत-सी ऐसी जंगली जातियाँ अब भी है, जिनमें कोई एक व्यक्ति बीस-पच्चीस से अधिक आदमियों को नही जानता। अतः उसे दस-बारह कोस पर ही रहने वाला यदि कोई दूसरा जंगली मिले और मारने दौड़े, तो वह भागकर उससे अपनी रक्षा उसी समय तक के लिए ही नही, बल्कि सब दिन के लिए कर सकता है। पर सभ्य, उन्नत और विस्तृत समाज मे भय द्वारा स्थायी रक्षा की उतनी सम्भावना नहीं होती। इसी से जंगली और असभ्य जातियों में भय अधिक होता है। जिससे वे भयभीत हो सकते हैं उसी को वे श्रेष्ठ मानते हैं और उसी की स्तुति करते हैं। उनके देवी-देवता भय के प्रभाव से ही कल्पित होते हैं; किसी आपत्ति या दुःख से बचे रहने के लिए ही अधिकतर वे उनकी पूजा करते है। अति भय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण है। अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हो गये हैं। वे

जितना सम्मान एक थानेदार का करते हैं, उतना किसी विद्वान् का नहीं।

चलने-फिरने वाले बच्चों में, जिनमें भाव देर तक नहीं टिकते और दुःख-परिहार का ज्ञान या बल नहीं होता, भय अधिक होता है। बहुत से बच्चे तो किसी अपरिचित आदमी को देखते ही घर के भीतर भागते हैं। पशुओं में भी भय अधिक पाया जाता है। अपरिचित के भय में, जीवन का कोई गूढ रहस्य छिपा जान पड़ता है। प्रत्येक प्राणी भीतरी आँख कुछ खुलते ही अपने सामने मानो एक दुःख-कारण-पूर्ण संसार फैला हुआ पाता है, जिसे वह क्रमशः कुछ अपने ज्ञान-बल से और कुछ बाहुबल से थोड़ा-बहुत सुखमय बनाता चलता है। क्लेश और बाधा का ही सामान्य आरोप करके जीव संसार में पैर रखता है। सुख और आनन्द को वह सामान्य का व्यतिक्रम समझता है; विरल विशेष मानता है। इस विशेष से सामान्य की ओर जाने का साहस उसे बहुत दिनों तक नही होता। परिचय के उत्तरोत्तर अभ्यास के बल से अपने माता-पिता या नित्य दिखाई पड़ने वाले कुछ थोड़े से और लोगों के ही सम्बन्ध में वह यह धारणा रखता है कि ये मुझे सुख पहुँचाते है और कष्ट न पहुँचाएँगे। जिन्हें वह नहीं जानता, जो पहले-पहल उसके सामने आते हैं, उनके पास वह बेधड़क नहीं चला जाता। बिल्कुल अज्ञात वस्तुओं के प्रति भी वह ऐसा ही करता है।

भय की इस वासना का परिहार क्रमशः होता चलता है। ज्यों-ज्यों वह नाना रूपों से अभ्यस्त होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी धड़क खुलती जाती है। इस प्रकार ज्ञान-बल, हृदय-बल और शरीर-बल की वृद्धि के साथ वह दुःख की छाया मानो हटाता चलता है। समस्त मनुष्य जाति की सभ्यता के विकास का भी यही क्रम रहा है। भूतों का भय तो अब बहुत कुछ छट गया है, पशुओं की बाधा भी मनुष्य के लिए प्रायः नहीं रह गई है; पर मनुष्य के लिए

मनुष्य का भय बना हुआ है। इस भय से छूटने के लक्षण भी नहीं दिखाई देते। अब मनुष्यों के दुःख के कारण मनुष्य ही है। सभ्यता से अन्तर केवल इतना ही पड़ा है कि दुःख-दान की विधियाँ बहुत गूढ़ और जटिल हो गई है। उनका क्षोभ-कारक रूप बहुत से आवरणों के भीतर ढक गया है। अब इस बात की आशंका तो नहीं रहती है कि कोई जबरदस्ती आकर हमारे घर, खेत, बाग-बगीचे, रुपये-पसे छीन ले; पर इस बात का खटका रहता है कि कोई नकली दस्तावेजों, झूठे गवाहों और कानूनी बहसों के बल से हमें इन वस्तुओं से वंचित न कर दे। दोनों बातों का परिणाम एक ही है।

एक-एक व्यक्ति के दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के लिये सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर रहे हैं और बराबर रहेंगे। किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था—एकशाही से लेकर साम्यवाद तक इस दोरंगी झलक को दूर नहीं कर सकती। मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ-साथ चलती रहेगी। ऐसे समाज की कल्पना, ऐसी परिस्थिति का स्वप्न, जिसमें सुख ही सुख, प्रेम ही प्रेम हो, या तो लम्बी-चौडी बात बनाने के लिये अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिये ही समझा जा सकता है।

ऊपर जिस व्यक्तिगत विषमता की बात कही गई है, उससे समष्टि रूप में मनुष्य-जाति का वैसा अमंगल नही है। कुछ लोग अलग-अलग यदि क्रूर लोभ के व्यापार में रत रहें, तो थोड़े से लोग ही उनके द्वारा दुःखी या त्रस्त होगे। यदि उक्त व्यापार का साधन एक बड़ा दल बाँधकर किया जायेगा, तो उसमें अधिक सफलता होगी और उसका अनिष्ट प्रभाव बहुत दूर तक फैलेगा। संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। प्राचीन काल में जिस प्रकार

के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान में हुई थी, उसने आगे चलकर यूरोप में बड़ा भयंकर रूप धारण किया। अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद का उसके साथ संयोग हुआ और व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया। यूरोप के देश-के-देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहाँ तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमण-काल तक ही—बहुत दीर्घ नही हुआ करता था—रहता था। पर यूरोप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित की, जिनके द्वारा भूमण्डल की न जाने कितनी जनता का क्रम-क्रम से रक्त चुसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते-फिरते ककालो के कारागार हो रहे है।

जब तक यूरोप की जातियों ने आपस में लड़कर अपना रक्त नही बहाया, तब तक उनका ध्यान अपनी इस अन्धी नीति के अनर्थ की ओर नहीं गया। गत महायुद्ध के पीछे जगह-जगह स्वदेश-प्रेम के साथ-साथ विश्व-प्रेम उमडता दिखाई देने लगा। आध्यात्मिकता की भी बहुत-कुछ पूछ होने लगी। पर इस विश्व प्रेम और आध्यात्मिकता का शाब्दिक प्रचार ही अभी तो देखने मे आया है। इस फैशन की लहर भारतवर्ष में भी आई। पर फैशन के रूप में गृहीत इस 'विश्व-प्रेम' की और 'अध्यात्म' की चर्चा का कोई स्थायी मूल्य नहीं। इसे हवा का एक झोंका ही समझना चाहिए।

सभ्यता की वर्तमान स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नही रहा, जैसा पहले रहा करता था पर एक जाति को दूसरी जाति से, एक देश को दूसरे देश से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गये है। सबल और सबल देशों के बीच अर्थ-

संघर्ष की, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है, एक क्षण का विराम नही है। इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न हुआ होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रहने के लिए क्षात्र-धर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्र-सघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

जिस प्रकार सुखी होने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है, उस प्रकार मुक्तातंक होने का भी। पर कर्मक्षेत्र के चक्रव्यूह में पड़कर जिस प्रकार सुखी होना प्रयत्न-साध्य होता है, उसी प्रकार निर्भय रहना भी। निर्भयता के सम्पादन के लिए दो बातें अपेक्षित होती है—पहली तो यह कि दूसरों को हम से किसी प्रकार का भय या कष्ट न हो, दूसरी यह कि दूसरे हमको कष्ट या भय पहुँचाने का साहस न कर सके। इनमें से एक का सम्बन्ध उत्कृष्ट शील से है और दूसरी का शक्ति और पुरुषार्थ से। इस संसार मे किसी को न डराने से ही डरने की सम्भावना दूर नही हो सकती, साधु से साधु प्रकृति वाले को क्रूर लोभियो और दुर्जनों से क्लेश पहुँचता है। अतः उनके प्रयत्नों को विफल करने की भय-संचार द्वारा रोकने की आवश्यकता से हम बच नही सकते।

—रामचन्द्र शुक्ल

चीनी भाई

मुझे चीनियों में पहचानकर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही साँचे में ढले-से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करनेवाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नही दिखाई देता। कुछ तिरछी, अधखुली विरल भूरी बरुनियों वाली आँखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीरकर बनाई गई है। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिह्नों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौहे सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार-प्रकार, वेश-भूषा सब मिलकर इन दूर-देशियों को यन्त्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते है, इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरी वाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे एक आर्द्र नीलिमामयी आँखो के साथ स्मरण आता है जिसकी मौन भगिमा कहती है—हम कार्बन की कापियाँ नही हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बन्ध में तुम्हारी आँखे निरक्षर नहीं तो तुम पढ़कर देखो न।

कई वर्ष पहले की बात है। मैं ताँगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपडे का गट्ठर बाये कन्धे के सहारे पीठ पर लटकाये हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे घर को

बन्द पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साहब'—दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तुरंग उठा देता है। भइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय सम्बोधन मानो सारा परिचय छीनकर मुझे गाउन में खड़ा कर देता। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न लौटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया, 'मैं विदेशी—फारेन—नहीं खरीदती।' 'हम फारेन है? हम तो चाइना से आता है' कहने वाले कण्ठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुककर, उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पाजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पाजामा, और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधडे हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढी-मूँछ-विहीन दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशी को चोट पहुँची, यह सोचकर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए भई!' चीनी भी विचित्र निकला, 'हमको भाय बोला है तुम जरूर लेगा, जरूर लेगा—हाँ?', होम करते हाथ जला वाली कहावत हो गई। विवश कहना पड़ा, 'देखूँ, तुम्हारे पास क्या है?' चीनी बरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कह चला, 'भोत अच्छा सिल्क आता है सिस्तर! चाइना सिल्क, क्रेप'···बहुत कहने-सुनने के उपरान्त दो मेजपोश खरीदना आव-

श्यक हो गया। सोचा—चलो छुट्टी हुई। इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठकर गज को फर्श पर बजा-बजाकर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा—'अब तो मैं कुछ न लूँगी। समझे?' चीनी खडा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्लित मुद्रा से बोला, 'सिस्तर का वास्ते हैकी लाता है—भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत मे छिपा के लाता है।"

देखा कुछ रूमाल थे। ऊदी रग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हें फूलों की प्रत्येक पंखुडी चीनी नारी की कोमल उँगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी, जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आँखों को जल्दी-जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक साँस में, 'सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है', दोहराने, तिहराने लगा।

मन में सोचा, अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कहकर चिढाया करते थे। सन्देह होने लगा, उस चिढाने में कोई तत्त्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहिन का सम्बन्ध क्यों जोडने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहाँ जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि रखता है इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते है, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते है, सफेद पर्दे के कोने में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे; आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बांध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहाँ की मिट्टी का हर कण भी इन्ही रंगों से रंगा न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा', कहते-कहते चीनी की आँखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिये भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था पर कहने-सुनने वाले को बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और बर्मी भाषाएँ आती थी जिनके सम्बन्ध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ 'मै आँखों के अन्धे, नाम नैन सुख' को कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञाये और हिन्दुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी उसमे कथा का सारा मर्म बँध नही पाता था। पर जो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़कर, दूसरों को अपना परिचय देने के लिये बह निकलती हैं वे प्रायः करुण होती है और करुणा की भाषा शब्दहीन रहकर भी बोलने मे समर्थ है। चीनी फेरी वाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता-पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दुकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहिन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी, उस अनदेखी मां के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

सम्भवतः माँ ही ऐसा प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके सम्बन्ध में जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बाँधने वाला विधाता माँ ही है, इसी से उसे न मानकर संसार को न मानना सहज है; पर संसार को मानकर उसे न मानना असम्भव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया तब उन मातृ-हीनों की यातना की कठोर कहानी आरम्भ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही सन्तुष्ट नही हो सका, क्योंकि उसके पाँचवें वर्ष में पैर रखते न रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया, पर बहिन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोतर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को भी कष्ट देकर चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहिन की कम्पित उँगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आँसुओ से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी-सी गोद में सिमटकर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सबेरे आँख मूँदकर बन्द द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहिन की ओर से गीले बालों में अपनी ठिठुरी हुई उँगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहिन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आने वाले आँसू की बड़ी बूँद देखकर वह घबराकर बोल उठा था—उसे कहवा नही चाहिए, वह तो पिता को देखना भर चाहता है।

कई बार पड़ोसियों के यहाँ रकाबियाँ धोकर और काम के बदले भात माँगकर बहिन ने भाई को खिलाया था। व्यथा की कौनसी अन्तिम मात्रा ने बहिन के नन्हें हृदय का बाँध तोड़ डाला, इसे अबोध बालक क्या जाने। पर एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड-दौडकर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौडी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेरकर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई।

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पाई—कब वह रोते-रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहिन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख रखकर सिसकियाँ रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने—पर बहिन के दिनों दिन विवर्ण होने वाले ओठो पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहिन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार-बार सोचता था पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृति-पट पर मां की कोई रेखा नहीं, परन्तु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उससे उनके स्नेहशील होने में सन्देह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा

और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुंच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा—तब यह विमाता कितनी डर जायगी और बहिन कितनी प्रसन्न होगी।

चाय की दूकान का मालिक अब दूसरा था, परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही इसी से बालक एक कोने में सिकुड़कर खड़ा हो गया और आने वालो से हकला-हकलाकर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर दो-एक ने दुकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही छोड आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दण्ड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अन्त हुआ।

बहिन का सन्ध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीर वाली विमाता का जंगली बिल्ली की तरह हल्के पैरो से बिछौने से उछल कर उतर आना, बहिन के शिथिल हाथो से बटुए का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों-के-त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहिन लौटी ही नही। सवेरे विमाता को कुछ चिन्तित भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहिन—उसकी एकमात्र आधार बहिन। पिता का पता न पा सका और अब बहिन भी खो गई। वह जैसा था वह वैसा ही बहिन को खोजने के लिये गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप मे परिवर्तित हो जाती उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था, इसी से वह जिसे अच्छे कपडे पहने हुए जाता देखता, उसीके पास पहुँचने के लिये

सडक के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकराकर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया मे प्रश्न कर बैठता—क्या इतना जरा-सा लड़का भी पागल हो गया है?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरम्भ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊँचीं कर खड़ा होना, मुँह पर पजे रखकर सलाम करना आदि करतब सिखाते है, उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाखू के धुएँ और दुर्गन्धित साँस से भरे और फटे चिथडे, टूटे बरतन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे मे बन्द कर कुछ विशेष सकेतों और हँसने-रोने के अभिनय में पारगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनो के बल खड़ा रहता और हँसने-रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय मे भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता। पर क्रन्दन उसके भीतर इतना अधिक उमडा रहता था कि जरा मुँह बनाते ही दोनो आँखों से दो गोल गोल बूँदें नाक के दोनों ओर निकल आती और पतली समानान्तर रेखा बनाती, मुँह के दोनो सिरों को छूती हुई ठुड्डी के नीचे तक चली जाती। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझ कर, रोओं से काले उदर पर पीला-सा रंग बाँधने वाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछलकर उसे एक लात जमा कर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी, स्यामी आदि का सम्मिश्रण था, इसी से 'चोरों की बरात में अपनी-अपनी होशियारी' के सिद्धान्त का पालन बड़ी संतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे, उनके विरोधियों का स्नेहपात्र होकर पिटना भी उसका परम

कर्त्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर सन्देह की ऐसी दृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान काँपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी उसका स्मरण करके चीनी की आँखें आज भी व्यथा और अपमान से धकाधक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े-मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह-जगह जले हुए कागज से ढककर रख दिया जाता था जिसे वह हरी आँखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गये तक उसके नरक के साथी एक-एक कर आते रहते और अंगीठी के पास सिकुड़कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरो को जल्दी-जल्दी रखता हुआ आता है उसे बहुत कुछ मिल गया है; जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है वह खाली हाथ है; जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है; जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैरों को रखता हुआ घुसता है उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है; आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षांत संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दुकान पर व्यापारी विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बाँधते-बाँधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज से इस तरह नापना कि जौ बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक को खूब देख-भालकर लेना और लौटाते समय पुराने, खोटे पैसे विशेष रूप से खनका-खनकाकर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दुकान में सोने की व्यवस्था होने से अँगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से सम्बन्ध रखने वाली सभी विद्याएँ एक-सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपाकर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहिन को ढूँढ़ने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी वे निराश होकर आत्महत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी सम्भवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिये कहीं दूर चली गई थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बन्द हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला। यहाँ शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सवेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छाएँ है, ईमानदार बनने की और बहिन को ढूँढ़ लेने की—जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिये वह प्रतिदिन भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच-बीच में वह महीनों के लिये बाहर चला जाता था, पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ही लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार देखते-देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कहकर और शब्दों की खोज करने लगा तब मै उसकी कठिनाई न समझकर हँस पड़ी। धीरे-धीरे पता चला—बुलावा आया है, यह लड़ने के लिये चाइना जायगा। इतनी जल्दी कपडे कहाँ बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुंचाकर बेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूँ, तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था—आज भी सकोच से हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिये प्रश्न किया, 'तुम्हारे तो कोई है ही नहीं, फिर बुलावा किसने भेजा?' चीनी की आँखे विस्मय से भरकर पूरी खुल गई—'हम कब बोला हमारा चाइना नहीं है? हम कब ऐसा बोला सिस्तर?' मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आई; उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा!

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या। पर कुछ अपने पास खोज-ढूँढ़कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। मुझे अन्तिम अभिवादन कर जब वह चंचल पैरों से जाने लगा तब मैंने पुकारकर कहा, 'यह गज तो लेते जाओ'। चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर

'सिस्तर दा वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गए।

और आज कई वर्ष हो चुके है—चीनी को फिर देखने की सम्भावना नहीं, उसकी बहिन से मेरा कोई परिचय नहीं, पर न जाने क्यों वे दोनों भाई-बहिन मेरे स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी गठरी में से कई थान मै अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना-बनाकर खर्च कर चुकी हूँ, परन्तु अब भी तीन थान मेरी आल्मारी में रखे है और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर एक खादी भक्त बहिन ने यह आक्षेप किया था 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते है वे भी विदेशी रेशम के थान खरीद कर रखते है, इससे तो देश की उन्नति नहीं होती', तब मै बड़े कष्ट से हँसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखियारा मातृ-पितृ-हीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन मे पहुँचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नही—पर मेरा मन यही कहता है।

—**महादेवी वर्मा**

विद्यार्थी और राजनीति

आजकल हिन्दुस्तान की हालत बड़ी विचित्र हो रही है और जो सवाल उठाये जाते है, हमें अचरज में डाल देते है । एक अजीब सवाल है, जो विद्यार्थियों और राजनीति से सम्बन्ध रखता है । कुछ लोग कहते हैं कि विद्यार्थियों को राजनीति में हरगिज़ हिस्सा नहीं लेना चाहिए । राजनीति है क्या ? भारत में आमतौर से उसका जो मतलब लगाया जाता है, उसके अनुसार सरकार की मदद करना या उसका समर्थन करना राजनीति नहीं है । राजनीति तो भारत की मौजूदा सरकार की आलोचना करना या सरकार के खिलाफ काम करना है ।

विद्यार्थी कौन है ? प्राथमिक स्कूलों के बच्चों से लेकर कालेजों के नवयुवक और नवयुवतियाँ तक, सब विद्यार्थी हैं । स्पष्टत: एक-से सिद्धान्त दोनों पर लागू नहीं हो सकते ।

आज बहुत से वयस्क विद्यार्थियों को आने वाले प्रान्तीय चुनावों में वोट देने का अधिकार है । वोट देना राजनीति में हिस्सा लेना है । समझ-बूझकर वोट देने के लिए जरूरी होता है कि राजनैतिक मसलों को समझा जाय; मसलों के समझने से अक्सर एक राजनैतिक नीति को भी मानना पड़ जाता है । नीति मानने पर नागरिक का कर्त्तव्य हो जाता है कि उस नीति का प्रचार करे और दूसरों का मत बदल कर उन्हें उस पर चलावे । इस तरह वोटर जरूरी तौर पर राजनैतिक होना चाहिए । और अगर वह एक तेज नागरिक है तब तो उसे एक चतुर राजनीतिज्ञ होना

चाहिए। जिनमें राजनैतिक या सामाजिक भावनाएं नहीं हैं, वे ही निष्क्रिय, तटस्थ या उदासीन रह सकते है।

वोटर के इस कर्त्तव्य से जुदा भी हरेक विद्यार्थी को, अगर उसे ठीक-ठीक शिक्षा मिली है, ज़िन्दगी और उसके मसलों के लिये अपने को तैयार करना चाहिए, नहीं तो उसकी शिक्षा पर की गई मेहनत बेकार जायगी। राजनीति और अर्थशास्त्र ऐसे मसलों को सुलझाते हैं। इसलिये आदमी जब तक उन्हें नहीं समझता, तब तक उसे ठीक पढ़ा-लिखा नहीं कहा जा सकता। बहुत से आदमियों के लिये शायद यह मुश्किल है कि जीवन के निविड़ वन में साफ-साफ रास्ता देखें। पर इनसे क्या? चाहे हम उन मसलों का हल जानते हों, या न जानते हों, कम-से-कम हमें उनकी खासियत का अन्दाज़ तो होना ही चाहिए। जिन्दगी कौन-कौन से सवाल हम से करती है? जवाब इसका मुश्किल है; लेकिन अजीब बात तो यह है कि आदमी बिना सवालों को ठीक-ठीक समझे उनका जवाब देने की कोशिश करते हैं। ऐसा बेकार रुख कोई गम्भीर और विचारवान् विद्यार्थी नहीं ले सकता।

तरह-तरह के वाद, जो आजकल की दुनिया में अपनी अहम्मियत रखते है—राष्ट्रवाद, उदारवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, फासिज्म वगैरा—वे जुदा-जुदा दलों के इन्हीं ज़िन्दगी के सवालों को हल करने की कोशिशें हैं। इनमें कौनसा हल ठीक है? या वे सब गलती पर हैं? हर हालत में अपना निर्णय करना है और निर्णय करने के लिये जरूरी है कि ठीक-ठीक निर्णय करने की हम में समझ हो और ताकत हो। विचारों और कार्यों की स्वतन्त्रता पर दबाव होने से ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। अगर विशाल सत्ता हमारे सिर पर बैठती है और हमें आज़ादी से सोचने से रोकती है, तब भी ऐसा नहीं किया जा सकता।

इस तरह सब विचारवान् लोगों के लिये, खास तौर से और

लोगों की बनिस्बत विद्यार्थियों के लिये यह जरूरी हो जाता है कि वे राजनीति में पूरा-पूरा सैद्धान्तिक भाग लें। कुदरतन् यह बात कम उमर के विद्यार्थियों की बनिस्बत, जिनके सामने ज़िन्दगी के मसले सपने में भी नहीं हैं, बड़ी उमर के विद्यार्थियों पर ही लागू होगी, जो जिन्दगी में पैर रख रहे है। लेकिन सैद्धान्तिक विचार ही ठीक तरह से समझने के लिये काफी नही हैं। सिद्धान्त के लिए भी व्यवहार को जरूरत होती है। पढ़ाई के खयाल से ही विद्यार्थियों को चाहिए कि वे लैक्चर-हाल को छोड़कर गाँवों, शहरों, खेतो और कारखानो में जायँ और वहाँ असलियत की जाँच करें और आदमियों के कामों में, जिनमें राजनैतिक काम भी शामिल है, कुछ हद तक हाथ बँटावे।

आमतौर से हरेक को अपने काम की हद बाँधनी होती है। विद्यार्थी का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपने दिमाग और जिस्म को शिक्षित करे और उन्हें विचार करने, समझने और काम करने के लिये तेज औजार बनाये। जब तक विद्यार्थी को शिक्षा नही मिलती, तब तक वह चतुराई के साथ न तो सोच सकता है और न काम कर सकता है। पर शिक्षा पवित्र सलाह पाकर ही नही मिल जाती। उसके लिए थोड़ा-बहुत काम में लगना पड़ता है। उस काम के लिये, मामूली हालत में, सैद्धान्तिक शिक्षा मिलनी चाहिए। लेकिन काम को उड़ाया नहीं जा सकता, नहीं तो शिक्षा अधूरी रहेगी।

यह हमारी बदकिस्मती है कि भारत में पढ़ाई का तरीका एकदम नामौजूँ है; लेकिन उससे भी बदकिस्मती उच्चाधिकार का वायुमण्डल है, जो उसको चारों ओर से घेर रहा है। अकेली शिक्षा में ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान में हर जगह लाल पोशाक वाली दिखावटी और अक्सर खाली मगज वाली ताकत आदमियों को अपने ही तरीके के ढाँचे में ढालने की कोशिश करती है और

दिमाग की तरक्की और खयालात के फैलाव को रोकती है।···हमारी यूनिवर्सिटी में ताकत की यह भावना फैली हुई है और व्यवस्था रखने के बहाने वह उन सबको कुचल डालती है जो चुपचाप उसके हुक्म को मान नहीं लेते। वे ताकतें उन गुणों को पसन्द नहीं करतीं जिन्हें आजाद मुल्कों में प्रोत्साहन दिया जाता है। वे साहस की भावना और आजाद हिस्सो में आत्मा के बहादुराना कामों को भी बर्दाश्त नही कर सकती। तब अगर हम में से ऐसे आदमी नही पैदा हो सकते जो ध्रुवों को या एवरेस्ट को जीतने की कोशिश करें, तत्त्वो को जीतकर आदमी के लिये फाइदेमन्द बनावें, आदमी की नाजानकारी और डरपोकपन, सुस्ती और छुटाई को दूर करें और उसे ऊँचा बनाने की कोशिश करे, तो इसमें अचरज क्या है ?

क्या विद्यार्थियो को राजनीति में जरूर हिस्सा लेना चाहिए ? जिन्दगी में भी क्या वे हिस्सा लें—जिन्दगी की तरह-तरह की क्रियाओं में पूरा-पूरा हिस्सा ? या क्लर्क बने ऊपर से आये हुक्मों को बजाते रहें ? विद्यार्थी होते हुए वे राजनीति से बाहर नही रह सकते। भारतीय विद्यार्थियों को तो और भी राजनीति के सम्पर्क में रहना चाहिए। फिर भी यह सच है कि मामूली तौर से अपनी बढ़ोतरी के काल में दिमागी और जिस्मानी शिक्षा की ओर उनका विशेष ध्यान होना चाहिए। उन्हें कुछ नियमों का पालन करना चाहिए; लेकिन नियम ऐसे न हों कि उनके दिमाग को ही कुचल डाले, उनके जोश को ही खत्म कर दें।

—**जवाहरलाल नेहरू**

नवीन सामाजिक व्यवस्था

जहाँ तक मैं समझता हूँ विश्वविद्यालय का प्रधान कर्त्तव्य सामुदायिक जीवन बिताने की सर्वोत्तम कला का अभ्यास कराना ही है। आजकल की संकटपूर्ण अवस्था में जब हम बर्बरता की ओर बढ़ रहे हैं तथा वातावरण खतरों से भरा दिखाई देता है यह कला कदाचित् सबसे कठिन भी है। समाज में उथल-पुथल मची हुई है। जो दलित हैं, जिनके पास खाने को अन्न तथा रहने को घर नहीं, उनके सामने राजनैतिक स्वाधीनता एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की चर्चा चलाना उनका उपहास करना है। हमारी कठिनाइयों का सच्चा स्वरूप कैसा है, मैं इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त आपके सामने नहीं रखना चाहता; पर क्या समाज-व्यवस्था के मूल में ही कुछ गड़बड़ नही, क्या मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध मे ही एक अराजक अव्यवस्था घर नहीं किए है? गूंगों-बहरों के लिये, लंगड़ों-अन्धों के लिये पर्याप्त सवेदना दिखाई देती है; पर गरीबों और बेकारों के प्रति तो कुछ भी नहीं, हालांकि इनकी संख्या उनसे कहीं अधिक है। हम प्रकृति की उदासीनता की शिकायत तो करते हैं, पर मनुष्य की दुर्बलता को चुपचाप स्वीकार कर लेते है। हम प्रकृति से उस न्याय की आशा करते हैं जो उसके गुणों में है ही नहीं, पर स्वयं उसको मानकर चलना नहीं चाहते।

भारत के नये विधान में राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये है जिससे लोग उनका मनमाना गैर-जिम्मेदाराना इस्तेमाल न कर सकें। आर्थिक क्षेत्र में प्रति-

बन्धों की आवश्यकता शायद और भी ज्यादा है। अपनी वर्त्तमान सामाजिक परिस्थिति में आर्थिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये आर्थिक शक्ति को प्रतिबन्धों से घेर रखना होगा जिससे सभ्य जीवन के लिए नितान्त प्रयोजनीय सामान्य सुख के साधन सबको सुलभ बनाये जा सकें। वास्तविक स्वतन्त्रता समाज-बन्धन को तोड़कर व्यक्ति के बिल्कुल अलग हो जाने में नहीं है। वह तो बुद्धिपूर्वक सामाजिक शक्तियों को इस भाँति व्यवस्थित करने में है जिससे सभी का उचित विकास हो सके। यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता के बीच समझौता कर लेने की बात नहीं है। समाज में जो घुन लग गया है उससे हमारी रक्षा तभी हो सकती है जब हम एक नये दृष्टिकोण से, सम्पूर्ण समाज में एकत्व-भावना का आरोप करें।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम राजनीतिक रहस्यवाद को ही पूरी तौर से स्वीकार कर ले और मनसा-वाचा-कर्मणा राज्य के ही दास बन जाएँ। ससार में ऐसे देश भी है जहाँ हर समाज कारागार बना दिया गया है और उसकी नींव स्वाधीनता के खण्डहरों पर रखी गई है। दुनिया के कई भागों में स्वाधीनता की जो दशा है उसे देखकर एक बुद्धिमान् फ्रांसीसी का वह कथन याद आता है जो उसने न्यूयार्क के बादशाह की स्वतन्त्रता की मूर्ति के दिखाये जाने पर कहा था—"हम भी, अपने यहाँ, मरे हुओं के स्मारक बनाते हैं।" जो नई गुलामी आज प्रचलित हो रही है उसमें मनुष्य को सोचने अथवा बोलने का साधारण अधिकार भी नहीं है। किसी सामाजिक व्यवस्था की सच्ची परख उसके नागरिकों की रचनात्मक शक्तियों के विकास से हो सकती है। हमें अपने आर्थिक जीवन को इस ढग से संगठित करना चाहिए कि व्यक्ति की जिम्मेदारी बढ़ जाय, घटे नहीं। सच्चा समाज गुलामों से नहीं, आज़ाद, स्वाभिमानी, सुशिक्षित स्त्री-पुरुषों से बनता है।

.जिस प्रकार कोई भी अच्छी सामाजिक व्यवस्था गुलामों से नहीं बन सकती, उसी प्रकार तमाम दुनिया के मित्रराष्ट्रों का संघ पराधीन राष्ट्रों के मिलने से नही बन सकता। जैसे सामाजिक स्वतन्त्रता तथा बराबरी के अधिकार एक राष्ट्र के आधार है वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संसार में सुख और शान्ति बनाये रखने के लिये निहायत जरूरी है। आजाद कौमों का राष्ट्रसघ शान्ति एव स्वतन्त्रता का मूल है। अभी तक यह केवल एक स्वप्न है, पर वह ऐसा स्वप्न है जिसने बडे-बड़े दिमागों को उत्तेजना दी है, बड़े-बड़े कामों को प्रोत्साहन दिया है और जो आगे भी उन्हे प्रोत्साहन देता रहेगा।

आधुनिक विश्वविद्यालय की शिक्षा बैठे-बैठे दिमागी घोड़ा दौड़ाने का मज़ा लेने के लिये न्योता नही है। वह तो कुछ करने के लिये हुक्म है; ऐसा हुक्म है जो हमें बदल जाने को कहता है। असबम्द्ध, अस्पष्ट विचारधारा, आलस्य तथा कायरता से होने वाले खतरनाक नतीजो को जानकर उनसे बचे रहने को कहता है। वहाँ हमें सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक समानता तथा भ्रातृ-भाव का ज्ञान और उसके अनुकूल कार्य करने के लिये उत्साह मिलना चाहिए। महान् आदर्शो की प्राप्ति महान् साधनो से ही हो सकती है। लोकतन्त्र बलात्कार नही करता; युक्ति देकर, समझा-बुझाकर, राजी करके काम निकालता है। लोकतन्त्री शासन में आपसी समझौता करके चलने की आदत बढती है। वहाँ सभी यह मानते हैं कि युक्ति देकर ही किसी को अपनी बात मानने पर राजी किया जा सकता है। यदि हम प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं को ठीक तरह से प्रयोग में लावें तो बिना खून बहाये, बिना क्रान्ति के ही, हम वर्त्तमान अवस्था में मौलिक परिवर्तन कर सकते है। लोकतन्त्र विशिष्ट जन-शासन बनकर ही, अपनी रक्षा कर सकता है। उसके नेताओं को दोषरहित तथा स्वतन्त्र प्रकृति का होना चाहिए। उन्हें बुद्धिमान् तथा सत्य-भक्त होना चाहिए। यदि चतुर तथा सिद्धात-

शून्य राजनीतिज्ञ जनता को उभारें और उन्हें अपने ही स्वार्थ के लिये प्रयोग करें तो यह प्राकृतिक जन-शासन होगा, लोकतन्त्र यह नही। लोकतन्त्र मानकर चलता है कि साधारण मनुष्यों को अपने हित का, अपनी भलाई-बुराई का, इतना अच्छा ज्ञान होता है कि वे दूसरों की भलाई चाहते है। शिक्षित कहलाने वाले लोगों में भी ऐसे लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम है जो बिना बाह्य नियन्त्रण को स्वीकार किये स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकते है। अतएव यह बहुत जरूरी है कि हम नेताओ को चुनते समय बुद्धिमत्ता तथा सावधानी से काम ले।

जनतन्त्रात्मक संस्थाए जब एक बार अपनी नीति बना लेती है तो उन्हे कार्यान्वित करने के लिये विशेषज्ञो के ऊपर छोड़ देना चाहिए। सभी प्रकार का शासन विशेषज्ञता का काम है साधारण लोगों पर शासन-भार छोड़ देना कुछ वैसा ही होगा। जैसे किसी स्कूल का इन्तजाम विद्यार्थियों पर छोड़ दिया जाय अथवा रेलगाड़ी चलाने का भार मुसाफिरों को सौप दिया जाय।

भारतीय विश्वविद्यालय के स्नातकों को शीघ्र ही ऐसे पदों पर काम करना पडेगा जिनमे दक्षता तथा उत्तरदायित्व की आवश्यकता होगी। कक्षा के भीतर, विवाद-सभा में, छात्रावास में, खेल के मैदान में, एक का दूसरे के मन को प्रभावित करके, विचार एवं वाणी की पूर्ण आजादी देकर उन्हे ईमानदार, सहिष्णु तथा स्नेहशील बनाना होगा; उन्हें भलाई देखना तथा सर्वोत्तम मार्ग का चुनना सिखाना होगा। विचार-स्वातन्त्र्य का विकास, उदारता तथा अपने से भिन्न सिद्धान्त रखने वाले लोगों की बातों को समझने की शक्ति का उत्पादन विश्वविद्यालय में ही सम्भव हो सकता है। स्पिनोजा का कथन है—"मैंने बहुत परिश्रम करके बहुत सजगता के साथ मनुष्यों के कामों को समझना सीखा है, उनका मजाक उड़ाना, उनपर खेद प्रकट करना अथवा उनसे घृणा

करना नहीं ।" विश्वविद्यालय के छात्रो से इस बात की आशा की जाती है कि आत्मसयम को बिना खोये, धर्मान्ध पुरुष की असहिष्णुता को बिना अपनाये वे घटनाओं अथवा सिद्धान्तों को देख तथा समझ सके । सामाजिक कुरीतियाँ, साम्प्रदायिक झगड़े, गरीबी तथा बेकारी, आर्थिक एव राजनैतिक कामों में बढ़े हुए नियन्त्रण आदि के कारण हमारे देश की जो अवस्था आज है, उसमें बुद्धिमान, साहसी तथा आत्म-त्यागी नवयुवकों के लिये काम करने को काफी अवसर मिलेंगे। देश की सेवा करने मे, सामाजिक न्याय, शुद्ध राजनीति तथा स्त्री-पुरुषो मे उचित सम्बन्ध स्थापित करने मे उन्हे पूरी आजादी होगी । मुझे आशा है कि वे इस सत्य को सदा याद रखेंगे कि असफलता मे धैर्य धारण करने से हमारी हानि कभी नही हो सकती, हाँ, धैर्य खो देने से उसका खतरा जरूरी है।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

सड़क की बात

मैं सड़क हूं। अहल्या जैसे मुनि के शाप से पत्थर हो गई थी, ठीक वैसे ही मैं भी शायद किसी के शाप से चिरनिद्रित सुदीर्घ अजगर की भाँति वन-जगल और पहाड़-पहाड़ियों से गुज़रती हुई पेड़ों की छाया के नीचे से और दूर तक फैले हुए मैदानों में ऊपर से देश-देशान्तरो को घेरती हुई बहुत दिनों से बेहोशी की नीद सो रही हूँ। जड़-निद्रा में पड़ी-पड़ी मै अपार धीरज के साथ अपनी धूल में लोटकर शाप की आखिरी घडियों का इन्तजार कर रही हूँ। हमेशा से जहाँ-तहाँ स्थिर हूँ, अविचल हूँ, हमेशा से एक ही करवट सो रही हूँ, मगर फिर भी मुझे पल-भर की फुरसत नहीं कि जरा आराम कर लूँ। इतना भी सुख नहीं कि अपनी इस कड़ी और सूखी सेज पर एक भी मुलायम हरी घास वा दूब डाल सकूँ। इतनी भी फुरसत नहीं कि अपने सिरहाने के पास एक छोटे से छोटा नीले रग का वन-फूल भी खिला सकूँ। मै बोल नहीं सकती; पर अन्धे की तरह सब कुछ महसूस कर सकती हूँ। दिन-रात पैरों की ध्वनि, सिर्फ पैरों की आहट सुना करती हूँ। मेरी इस गहरी जड़-निद्रा में लाखों चरणों के शब्द दिन-रात दुःस्वप्न की तरह घूमते रहते है। मैं चरणों के स्पर्श से उनके हृदयों को पढ लेती हूँ, मैं समझ जाती हूँ कौन घर जा रहा है, कौन परदेश जा रहा है, कौन काम से जा रहा है, कौन आराम करने जा रहा है, कौन उत्सव में जा रहा है, और कौन श्मशान को जा रहा है। जिसके सुख की घर-गृहस्थी है, स्नेह की छाया है; वह हर कदम पर सुख की तस्वीर खींचता है, आशा के बीज बोता जाता है। जान पड़ता है,

जहाँ-जहाँ उसके पैर पड़ते हैं वहाँ-वहाँ क्षण भर में मानो एक-एक लता अकुरित और पुष्पित हो उठेगी। जिसके घर नही, आश्रय नहीं, उसके पदक्षेप मे न आशा है, न अर्थ है, उसके कदमों में न दायाँ है; न बायाँ है; उसके पैर कहते है, मै चलूँ तो क्यों, और ठहरूँ तो किस लिए ? उसके कदमों से मेरी सूखी हुई धूल मानो और भी सूख जाती है।

संसार की कोई भी कहानी मै पूरी नही सुन पाती। आज सैकड़ों-हजारों वर्षों से मै लाखों-करोडो लोगो की कितनी हँसी, कितने गीत, कितनी बाते सुनती आई हूँ, पर थोडी-सी बात सुन पाती हूँ। बाकी सुनने के लिये जब कान लगाती हूँ तब देखती हूँ कि वह आदमी ही नही रहा। इस तरह न जाने कितने युगों की कितनी टूटी-फूटी बातें और बिखरे हुए गीत मेरी धूल के साथ धूल बन गये है, और धूल बनकर अब भी उड़ते रहते है, कौन कह सकता है ?

वह सुनो, कोई गा रही है—कहते-कहते कह नही पाई। ओह, ठहरो, जरा गीत को पूरा कर जाओ, पूरी बात तो सुन लेने दो मुझे, पर कहाँ ठहरी वह ? गाते-गाते न जाने कहाँ चली गई ! आखिर तक मै सुन ही न पाई। बस, आज आधी रात तक उसकी पग-ध्वनि मेरे कानों मे गूँजती रहेगी। मन ही मन सोचूँगी, कौन थी वह ? कहाँ जा रही थी न जाने ? जो बात न कह पाई उसी को फिर कहने गई। अब की बार जब फिर उससे भेंट होगी, वह जब मुँह उठाकर इसके मुँह की तरफ ताकेगा, तब 'कहते-कहते' फिर 'कह नहीं पाई' तो ? तब उससे फिर मुँह मोड़कर, सिर नीचा करके, बहुत धीरे-धीरे लौटते समय फिर अगर वह गाती जाय, कहते-कहते कह नही पाई तो ?

समाप्ति और स्थायित्व शायद कही होगा, पर मुझे तो नही दिखाई देता। एक चरण-चिन्ह को भी तो मैं ज्यादा देर तक

काम पर नही रख सकती । मेरे ऊपर लगातार चरण-चिन्ह पड़ रहे है; पर नये पॉव आकर पुराने चिन्हो को पोछ जाते है। जो चला जाता है वह तो पीछे कुछ छोड़ ही नही जाता । कदाचित् उसके सिर के बोझ से कुछ मिलता भी है तो हजारों चरणों के तले लगातार कुचला जाकर कुछ ही देर में वह धूल में मिल जाता है। परन्तु एक बात अभी देख रही हूँ, वह यह कि किसी-किसी महापुरुष के पुष्प-स्तूप के अन्दर ऐसा एक अमर बीज पड गया है जो धूल मे पड़कर भी अकुरित और वर्द्धित होकर मेरे बगल में स्थायीरूप से विराज रहा है और पथिको को छाया प्रदान कर रहा है।

मै किसी का भी लक्ष्य नही हूँ । सब का उपाय मात्र हूँ। मै किसी का घर नहीं हूँ, पर सबको घर ले जाती हूँ । मुझे दिन-रात यही सन्ताप सताता रहता है कि मुझ पर कोई तबियत से कदम नही रखना चाहता। मुझ पर कोई खड़ा रहना पसन्द नही करता । जिनका घर बहुत दूर है वे मुझे ही कोसते और शाप देते रहते है। मै जो उन्हे परम धैर्य के साथ उनके घर के द्वार तक पहुँचा देती हूँ, इसके लिये कृतज्ञता कहाँ पाती हूँ ? वे अपने घर जाकर आराम करते है, घर पर आनन्द मनाते है, घर में उनका सुख-सम्मिलन होता है, बिछुड़े हुए सब मिल जाते है; और मुझ पर केवल थकावट का भाव दरसाते हैं, केवल अनिच्छाकृत श्रम हुआ समझते है, मुझे केवल विच्छेद का कारण मानते है। क्या इसी तरह बार-बार दूर ही से, घर के झरोखे में से पंख पसार कर बाहर आती हुई मधुर हास्य-लहरी मेरे पास आते ही शून्य में विलीन हो जाया करेगी ? घर के उस आनन्द का एक कण भी, एक बूँद भी मैं नहीं पाऊँगी ?

कभी-कभी वह भी पाती हूं। छोटे-छोटे बच्चे जो हँसते-हँसते मेरे पास आते हैं और शोरगुल मचाते हुए मेरे पास आकर

खेलते है, अपने घर का आनन्द वे मेरे पास ले आते है। उनके पिता का आशीर्वाद और माता का स्नेह घर से बाहर निकलकर, मेरे पास आकर, सड़क पर ही मानो अपना घर बना लेता है। मेरी धूल में वे स्नेह दे जाते है, प्यार छोड़ जाते है। मेरी धूल को वे अपने वश मे कर लेते है और अपने छोटे-छोटे कोमल हाथो से उसकी ढेरी पर हौले-हौले थपकियाँ दे-देकर परम स्नेह से उसे सुलाया चाहते है। अपना निर्मल हृदय लेकर बैठे-बैठे वे उसके साथ बाते करते है। हाय-हाय, इतना स्नेह, इतना प्यार पाकर भी मेरी यह धूल उसका जवाब तक नही दे पाती ! मेरे लिये कैसा शाप है यह ?

छोटे-छोटे कोमल पाँव जब मेरे ऊपर से चले जाते है तब अपने को मै बड़ी कठिन अनुभव करती हूँ; मालूम होता है उनके पाँवों में लगती होगी। उस समय मुझे कुसुम-कली की तरह कोमल होने की साध होती है। अपने मन की बात मै समझा नही सकती; पर किसी कवि ने कहा है—

"जहँ-जहँ अरुण चरण चलि जाता,
तहँ-तहँ धरनि होय मम गाता।"

अरुण चरण ऐसी कठोर धरती पर क्यों चलते है? किन्तु यदि न चलते तो शायद कही भी हरी-हरी घास पैदा न होती।

प्रतिदिन नियमित रूप से जो मेरे ऊपर चलते है उन्हे मैं अच्छी तरह पहचानती हूँ। पर वे नहीं जानते कि उनके लिये मैं कितनी प्रतीक्षा किया करती हूँ। मैं मन-ही-मन उनकी मूर्ति की कल्पना कर लेती हूँ। बहुत दिन हुए, ऐसी ही एक प्रतिमा अपने कोमल चरणों को लेकर दोपहर को बहुत दूर से आती, छोटे-छोटे दो नूपुर रुनझुन-रुनझुन करके उसके पाँवो में रो-रोकर बजते रहते। शायद उसके ओठ बोलने के ओठ न थे, शायद उसकी बड़ी-बड़ी आँखें सन्ध्या के आकाश की भाँति म्लान दृष्टि से किसी

के मुँह की ओर देखती रहती । उस चबूतरे वाले वट वृक्ष के बाईं तरफ, जहाँ मेरी एक शाखा गाँव की ओर चली गई है वहाँ, पेड के नीचे वह हारी-थकी चुपचाप खड़ी रहती और दूसरा एक कोई अपना दिन भर का काम पूरा करके अनमने मन से गाता हुआ उसके सामने से गाव की ओर चला जाता । शायद वह किसी की ओर देखता न था, कही भी ठहरता न था, और सीधा घर के द्वार पर जाकर अपना पुरवी गीत खतम करता था। उसके चले जाने पर वह बालिका अपने थके हुए पैरों से फिर उसी रास्ते से लौट जाती, जिससे वह आई थी। बालिका जब लौटती तब मालूम होता कि अन्धकार हो आया है । सन्ध्या के अन्धकार का ठण्डा स्पर्श मै अपने अग-प्रत्यगो पर पूरी तरह अनुभव करने लगती । जब गोधूलि के समय की कौओं की काँव-काँव बिल्कुल थम जाती, पथिकों का आना-जाना करीब-करीब बन्द सा हो जाता, सन्ध्या की हवा के झोकों से बाँस के झाड़ रह-रहकर झरझर-झरझर शब्द कर उठते, वह उसी तरह प्रतिदिन अत्यन्त मंद गति से आती और वैसे ही धीरे-धीरे चली जाती। एक दिन फागुन के अन्त के दिनो में, दोपहर को जब आम के बौर हवा से झड़ रहे थे, वह दूसरा जो आता था वह न आया । उस दिन बहुत रात-बीते बालिका घर लौट गई। जैसे अभी बीच-बीच में पेड़ो से सूखे पत्ते झड़ रहे है वैसे ही कभी-कभी दो-एक बूँद आँसू मेरी नीरस गरम धूल पर पड़ते और सूख जाते थे । फिर, उसके दूसरे ही दिन दोपहर को वह बालिका उसी पेड़ के नीचे आकर खड़ी हुई, पर उस दिन भी वह न आया। फिर रात को वह धीरे-धीरे घर की तरफ चल दी। कुछ दूर जाकर उससे चला न गया, मेरे ऊपर धूल में लोट गई बेचारी, और दोनों हाथों से मुंह ढककर छाती फाड़-फाड़कर रोने लगी।

कौन हो बिटिया ? क्या इस निर्जन रात्रि में भी कहीं कोई मेरी छाती पर विश्राम लेने आता है। तू जिसके पास से लौटी

है, क्या वह मुझसे भी कठोर है? तूने जिसे पुकार-पुकार कर कोई जवाब नही पाया, क्या वह मुझ से भी बढ़कर गूंगा है? तूने जिसकी तरफ देखा है क्या वह मुझसे भी ज्यादा अन्धा है?

बालिका उठ बैठी, खड़ी हो गई, आँखे पोंछ डालीं और फिर मुझे छोडकर चली गई। शायद वह घर लौट गई, शायद वह अब शान्त मुख से घर का काम-धन्धा करती होगी, शायद वह किसी से भी अपने दु:ख की बात नही करती होगी। हाँ, किसी-किसी दिन वह संध्या समय घर के आगन मे चन्द्रमा की चाँदनी मे पैर फैलाये बैठी दिखाई देती है। उस वक्त कोई बुलाता तो वह चौक पड़ती और झट उठकर भीतर चली जाती पर मैने उसके दूसरे दिन से आज तक कभी उसके चरणों का स्पर्श नही किया।

ऐसे कितने ही पाँवों के शब्द नीरव हो गये है। मै क्या उनकी याद रख सकती हूँ? सिर्फ उन पाँवों की करुण नूपुर ध्वनि अब भी कभी-कभी याद आ जाती है। पर मुझे क्या घडी भर भी शोक या सन्ताप करने की छुट्टी मिलती है? शोक किस-किस के लिये करे? ऐसे कितने ही आते है और चले जाते है।

उफ, कैसी कड़ी घाम है! एक-एक बार साँस छोड़ती हूँ और तपी हुई धूल सुनील आकाश को घुआँधार करके उडी चली जाती है। अमीर और गरीब, सुखी और दु:खी, यौवन और बुढापा, हंसी और रोना, जन्म और मृत्यु सब कुछ मेरे ऊपर एक ही साँस में धूल के स्रोत की तरह उड़ता चला जा रहा है। इसलिये सड़क के न हँसी है न रोना। घर ही बीते हुए पर शोक करता है, वर्तमान के लिये सोचता है, भविष्य के लिये आशा में डूबा रहता है। पर सड़क! वह तो वर्तमान के प्रत्येक पल में हजारों-लाखों नये-नये अतिथियों को लेकर ही व्यस्त रहती है। ऐसे स्थान पर अपने पद-गौरव पर विश्वास करके, अत्यन्त दर्प

के साथ पैर रखता हुआ कौन अपने चिरचरण-चिन्ह रख जाने का प्रयास करता है ? जिनके लिये यहाँ की हवा में तुम दीर्घ निःश्वास छोड़ जाते हो, तुम्हारे चले जाने पर क्या वे तुम्हारे लिए विलाप करते रहेंगे। तुम्हारे वे दीर्घ निःश्वास नये अतिथियों की आँखों में आँसू खींच लायेंगे ? हवा पर हवा क्या टिक सकती है ? नहीं, नहीं, व्यर्थ की कोशिश है। मैं अपने ऊपर कुछ भी पड़ा रहने नहीं देती, न हँसी, न रोना। सिर्फ मैं ही अकेली पड़ी हुई हूँ, और पड़ी रहूँगी।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कवि और सन्त

पुराने जमाने में भक्तिमार्गी और योगमार्गी सन्त काफी तादाद में कविताएँ करते थे। सन्तों की कृतियों में कविता तो होती ही थी। यह बात नही कि सभी सन्तों की कविता मे काव्य-गुण या प्रसादगुण होता ही था। लेकिन भक्तिभावपूर्ण लोगों के मन की कुछ ऐसी गढन या पूर्व तैयारी चली आई है कि जिसका जीवन पवित्र है, जिसने अपना जीवन परमेश्वर के चरणों में समर्पित किया है, उसकी छंदोबद्ध वाणी पवित्र, बोधामृत पिलाने वाली अनुभवमूलक होती है और इसलिये उसे प्रासादिक समझना चाहिए और उसमें काव्य देखना चाहिए। अतः उन्होंने यह न देखकर कि काव्य का सच्चा लक्षण क्या है, काव्य की ऐसी ही परिभाषा बनाना तय किया जिसमें सन्तवाणी का समावेश हो सके।

यह हुई सन्तों की बात। इतिहास, पुराण और पौराणिक काव्य लिखने वाले सभी कवि सन्त थे ऐसा दावा हालाँकि नहीं किया जा सकता, फिर भी वे 'धर्मग्रंथ' लिखते है, ईश्वरी लीला का वाङ्मय-विस्तार करते हैं और धर्म-शिक्षा को दृढ बनाते है इसलिए उनकी छंदोबद्ध रचना को भी काव्य कहना चाहिए, ऐसा लोगों को लगता था। आज भी सामान्य लोगों की धारणा यह है कि छंद-रचना ही काव्य है। पौराणिक कथाएँ और अवतारी पुरुषों के लीलामृत वर्णनात्मक होने से उनमें काव्य-गुण के लिये अच्छा-खासा अवकाश रहता है। ऐसी रचनाओं में कहीं-कहीं काव्य-गुण चमक उठता है फिर भी उसके वातावरण में रचना का

रूक्ष भाग भी वस्तु या कथा के प्रवाह में रोचक बनता है और चाहे जितनी लम्बी कलाकृति भी पढने योग्य बनती है।

केवल शृंगारिक या अश्लील लावनियों (गीतों) या शृंगार-शतकों की बात तो बिल्कुल अलग ही है। उनकी रचना में काव्य गुण हो या न हो, कामुकता को उद्दीप्त करने की सस्ती शक्ति उनमें अवश्य होती है। इसलिये विलासप्रिय मनुष्य को उसमें सहज ही काव्यगुण दिखाई देता है और दूसरी तरफ ऐसे रंगीलेपन मे सच्चा काव्यगुण हो तो भी वह नीतिविघातक होने के कारण शिष्ट समाज या दाभिक प्रतिष्ठा को उसकी निन्दा करनी ही पड़ती है। (वास्तव में देखा जाय तो श्री के मानी हैं रमणीयता, अ-श्री यानी रमणीयता का अभाव। इस अ-श्री पर से ही अश्लील विशेषण बना है। यह अश्लील शब्द सदाचार-वादियों ने नही बल्कि सुरुचिवादियों ने, कलाकोविदों ने बनाया है। अतः जो अ-श्री-अश्लील होगा वह रम्य या रमणीय कैसे हो सकता है ?)। अश्लील पद्य-रचना मे काव्यगुण न हो तो भी वह रंगीले लोगों में अत्यन्त प्रिय होगा ही, और अश्लीलता के वायु-मण्डल को छेदकर उससे काव्यरस का फव्वारा निकल आये तो भी शिष्ट या समाज हितैषी लोग उसे हरगिज मंजूर न करेंगे।

पुराने जमाने की परिस्थिति इस तरह की थी। वर्तमान समय के सन्त काव्य बहुत कम करते हैं। पुराने काव्य काफी होने के कारण उन्ही से उनका काम चल जाता है और आधुनिक युग के सन्त-काव्यों का न होने से (यानी उनके लिये अनुकूल न होने से) आधुनिक सन्त व्याख्यानो, प्रवचनों, बोधवचनों या सुभाषितों द्वारा ही अपना हृदय, अपनी श्रद्धा तथा अपने अनुभव व्यक्त करते हैं और दूसरी तरफ हमेशा सन्तपन में ही मस्त होकर रहने की आवश्यकता या जिम्मेदारी अब कवियों को महसूस न होने से

वे चाहे जिस विषय पर, चाहे जैसी वृत्ति मे आकर या उसे धारण करके काव्य रचना करने लगे है।

क्या सन्त, क्या कवि, दोनो मे अनन्त प्रकार की वृत्तियाँ या भावनाएँ प्रस्फुरित हुआ ही करती है। जिस समय जो भावना प्रबल हो उस समय वह भावना उसके लिये सच्ची ही होती है। कभी-कभी इन भावनाओं में उच्चकोटि की उत्कटता हो तो भी स्थिरता, वीर्य या जोश नही होता। जिस तरह नाटक का अभिनेता वीर-रस का चाहे जितना दिखावा करे तो भी हम उसके पीछे वीरोचित जीवन की अपेक्षा नही रखते, उसी तरह कवि अलग-अलग भाव प्रकट करे तो भी उससे उन भावो के अनुकूल बर्ताव की अपेक्षा हम नही रखते। लेकिन सन्तों की बात ऐसी नहीं है। हम तो मान ही लेते है कि सन्त एक परम पारमार्थिक प्राणी है। हम में एक अपेक्षा यह होती है कि 'सन्त जैसे बोले वैसे ही चले।' और इसलिये सन्तों को अनेक प्रकार की भावनाओं मे विहार करने की, ऊँचा उड़ने की और आशा-निराशा, सन्तोष-असन्तोष, संयोग-विप्रलम्भ आदि के आरोह-अवरोह करने की पूरी तरह छूट होते हुए भी उन्हें अनुभव के तबूरे का सुर कायम रखकर उससे विसंवादी न हो इस तरह सभी आलाप और प्रलाप के तार छोड़ने पड़ते है। और अगर शब्दार्थ से ही चिमटकर रहने वाला कोई दुर्दैवी भक्त मिल जाय तो अपने परस्पर विरोधी बचनों को एकवाक्यता करके दिखाने की जिम्मेदारी उन पर या उनके अभिमानी विवेचक पर आ पड़ती है। इसमें अगर कामयाबी न मिली तो रहस्यवाद का आश्रय लेने की सहूलियत है तो सही, लेकिन अनुभव मात्र पारमार्थिक और परम सत्य होने से विरोध का परिहार करने की जिम्मेदारी कभी टाली नही जा सकती। लेकिन कवि तो आखिर निरंकुश ठहरा। वह कहेगा, 'एकवाक्यता कैसी? जड़ तथा मूढ़ों के वचनों मे एकवाक्यता हो

तो शायद हो, मैं तो अपनी प्रतिभा मुझसे जैसा कुछ कहलवाती है, बोलता हूँ। आप ऐसी गलत कल्पना किस लिए कर बैठते हैं कि मै एक व्यक्ति हूँ? मेरा दिल एक आकर्षक सराय है। वहाँ कितने ही अजीबो-गरीब लोग आकर ठहरते है और चले जाते है। क्या आपको कभी ऐसा लगा है कि आपकी मेज पर का टेलीफोन एक ही ढग की बातें किया करे, आपका ग्रामोफोन एक ही प्रकार का सगीत गाये, आपकी पार्लियामेंट परस्पर विसवादी प्रस्ताव बनाये अथवा पास करे, या आपकी म्युनिसिपैलिटी एक ही धर्म का पालन करे? मै एक नही अनेक हूँ। मैं कोई व्यक्ति नही, समुदाय हूँ। जिस दृष्टि से आप समुदाय की तरफ देखते है वही दृष्टि आप मेरे सम्बन्ध में रखे, उत्कट भावनाओं के वश होने की अनाग्रहिता मुझ में है। यह सब आपकी समझ में न आता हो तो मैं क्या कहूँ? मैं तो जैसा हूँ वैसा हूँ। मेरा जो कुछ आपको करना हो करे। मेरी तरफ ध्यान न देने से आपका काम न चलेगा। मोहक सुन्दर बालक शरारते करके आपको परेशान करे तो भी आपको वह सब प्यारा लगता है; उसी तरह मेरे परस्पर विरोधी बोल आपके हृदय में जबर्दस्ती बैठ जाते हैं और आपको मजबूरन अभिमुख करते है। उसे आप भी क्या करेंगे और मैं भी क्या करूँ? मुझे अपना अस्तित्व साबित नही करना पड़ता और उसका बचाव भी नही करना पडता, तो फिर फिजूल झगड़ा किस लिये करे? मुझे अपना साथी समझिये; या एक व्यसन समझिये इतनी बात तो बिल्कुल साफ है कि मैं आपसे चिपक ही गया हूँ?'

क्या सचमुच ही कवि हमारी दुर्बलता से नाजायज फायदा उठाते है? हमारा जीवन व्यवस्थित नही है। जिस तरह बड़े समूह के सामने कोई स्थायी आदर्श या हेतु नहीं होता, उसी तरह का हमारा जीवन है। क्या इसलिए वे अनुचित लाभ उठाते है? या कवि की साधनाशून्य, साधनाविहीन भावनाओं में भी बुद्धि से परे कोई एकता का तत्त्व सचमुच ही छिपा हुआ होता है? या

फिर सन्त और कवि दोनों में कोई अन्तिम भेद ही नही है ? सन्त यानी उत्कट भावना के साथ साधना का वरण करने वाले लोग, और कवि यानी अनन्त प्रकार से साधना-प्रवाह में बरबस खिचे जाने वाले विचित्र समुदाय—इतना ही दोनो में फर्क है। चाहे जो कहिये, लेकिन सभी सन्तो के वचन एकत्रित करने पर उनमें भी आपस में कुछ कम विरोध दिखाई नही देता। ऐसी श्रद्धा नहीं बैठती कि जो कविता सन्तवाणी के नाम पर खपती है वह सब अनुभव-वाणी ही होगी। अनुभव का नाम तक न हो तो भी पुराने सन्तो की परिभाषा का प्रयोग करके सन्तवाणी जैसी कविता आसानी से तैयार की जा सकती है। सन्तवाणी का एकतन्त्र बन चुका है। उसकी मर्यादाओं का पालन करके कविता तैयार की जाय तो फिर इस बात का डर रखने का कोई कारण नही कि उसमें कोई टोके। और मान लीजिये कि थोड़ा सा अनुभव है भी, फिर भी यह कौन कह सकता है कि वह जीवन के परम रहस्य की दृष्टि से सच्चा ही है ? ऐसा साबित करने की जिम्मेदारी भी कौन स्वीकार करता है ? एक तरफ यह आग्रह रखा जाता है कि सन्तवाणी में आपसी मेल होना ही चाहिए, वह प्रगट होना ही चाहिये और दूसरी तरफ चाहे जिस तरीके से ऐसा मेल दिखाने वाले तर्कवीर या बुद्धि की कसरत करने वाले, करतब दिखानेवाले नट ढेरों पडे है।

अब समय आ गया है कि सन्तवाणी में खपनेवाली सभी कविताओं में परम रहस्य का अनुभव है ही ऐसा न मानकर सामान्य कवि के काव्य की तरह उन्हें समझकर सत्य और समृद्ध जीवन-दर्शन की दृष्टि से उनका संशोधन हो। जो भावनाएं आत्मिक विकास के लिये प्रतिकूल हों उन्हें सावधान करना चाहिए, और प्रसंगवशात् उनके कान भी ऐंठने चाहियें। सन्तवाणी का पासपोर्ट (परवाना) लेकर जो कल्पनाएं आज समाज में बेरोकटोक फैल गई हैं और विचार तथा भावों की अराजकता पैदा करके

समाज को बुद्धिदुर्बल और प्रयत्नशिथिल बना रही हैं उन सब कल्पनाओं को इकट्ठा करके, जिस तरह अशोक के समय में बौद्ध भिक्षुओं की परीक्षा ली गई थी, कौन से वचन धर्मानुकूल है व कौनसे धर्मबाह्य है यह धर्मसगीति में निश्चित किया गया था, उस तरह इस समय भी करने का वक्त आ गया है। यह तय करना बहुत मुश्किल है—और यही एक बडी कठिनाई है—कि इस सगीति मे किसको नियुक्त किया जाय, तथा सच्चा समृद्ध तत्त्व ज्ञान किसे कहना चाहिए।

स्वामी दयानन्दजी ने बहुत ही सकुचित कसौटी लेकर उस पर प्राचीन धर्मग्रन्थों को कसके देखा और उनके प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निश्चय किया। जीवन कोई इतना तर्क-सकुचित नही हुआ करता। दुनिया की सारी चिन्तनराशि का विचार करके, भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की व्यापक दृष्टि धारण करके प्रत्येक मण्डल की कुछ नहीं तो अपने लिये ही सही, इस दिशा में संशोधन करने की आवश्यकता है।

सन्तवाणी में आने वाली अलग-अलग भावनाओं को एक के बाद एक कसौटी पर कसके ही ऊपर कही हुई बाते स्पष्ट की जा सकती है।

इस कसौटी के शास्त्र का या संशोधनशास्त्र का आलोचन और सन्तवाणी का अवगाहन जितना अधिक किया जाय उतना यह काम अधिक अच्छी तरह सम्पन्न होने वाला है। लेकिन किसी को तो इस दिशा में प्रयाण का प्रारम्भ करना ही चाहिए।

—काका कालेलकर

खेल

मौन-मुग्ध सध्या स्मित प्रकाश से हँस रही थी। उस समय गगा के निर्जन बालुकास्थल पर एक बालक और बालिका अपने को और सारे विश्व को भूल, गगातट के बालू और पानी को अपना एकमात्र आत्मीय बना, उनसे खिलवाड़ कर रहे थे।

प्रकृति इन निर्दोष परमात्म-खण्डों को निस्तब्ध और निर्नि-मेष निहार रही थी। बालक कही से एक लकड़ी लाकर तट के जल को छटा-छट उछाल रहा था। पानी मानो चोट खाकर भी बालक से मित्रता छोड़ने के लिए विह्वल हो उछल रहा था। बालिका अपने एक पैर पर रेत जमाकर और थोप-थोपकर एक भाड़ बना रही थी।

बनाते-बनाते भाड़ से बालिका बोली—देख, ठीक नही बना तो मै तुझे फोड़ दूँगी। फिर बड़े प्यार से थपका-थपका कर उसे ठीक करने लगी। सोचती जाती थी—इसके ऊपर मै एक कुटी बनाऊँगी, वह मेरी कुटी होगी। और मनोहर ?·· नही वह कुटी में नही रहेगा, बाहर खड़ा-खडा भाड़ में पत्ते झोकेगा। जब वह हार जायेगा, बहुत कहेगा, तब मै उसे अपनी कुटी के भीतर ले लूँगी।

मनोहर उधर अपने पानी से हिल-मिलकर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहाँ अकारण ही उस पर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी—मनोहर कैसा अच्छा है, पर वह दगई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अब के दंगा करेगा, तो हम उसे कुटी में साझी नही करेंगे। साझी होने को कहेगा तो उससे शर्त करवा लेंगे, तब साझी करेंगे। बालिका सुरबाला सातवे वर्ष में थी। मनोहर कोई दो साल उससे बड़ा था।

बालिका को अचानक ध्यान आया—भाड की छत तो गरम होगी। उस पर मनोहर रहेगा कैसे ? मै तो रह जाऊँगी। पर मनोहर जो जलेगा। फिर सोचा—उससे मै कह दूँगी भई, छत बहुत तप रही है, तुम जलोगे, तुम मत आओ। पर वह अगर नही माना ? मेरे पास वह बैठने को आया ही तो ? मैं कहूँगी—भाई ठहरो, मैं ही बाहर आती हूँ...पर वह मेरे पास आने को जिद करेगा क्या ?...जरूर करेगा, वह बड़ा हठी है.. पर मैं उसे आने नहीं दूँगी। बेचारा तपेगा—भला कुछ ठीक है ! ज्यादा कहेगा, मैं धक्का दे दूँगी, और कहूँगी—अरे, जल जायगा मूरख ! यह सोचने पर उसे बड़ा मजा-सा आया, पर उसका मुँह सूख गया। उसे मानो सचमुच ही धक्का खाकर मनोहर के गिरने का हास्योत्पादक और करुण दृश्य सत्य की भाँति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिका ने दो-एक बार पक्के हाथ भाड़ पर लगाकर देखा—भाड़ अब बिल्कुल बन गया है। माँ जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने नवजात शिशु को बिछौने पर लिटाने को छोड़ती है वैसे ही सुरबाला ने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींच लिया। इस क्रिया में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पैर ही पर तो भाड़ टिका है, पैर का आश्रय हट जाने पर बेचारा कही टूट न पड़े ! पैर साफ निकालने पर भाड़ जब ज्यों-का-त्यों टिका रहा, तब बालिका एक बार आह्लाद से नाच उठी।

बालिका एक बारगी ही बेवक़ूफ मनोहर को इस अलौकिक चातुर्य से परिपूर्ण भाड़ के दर्शन के लिए दौड़कर खीच लाने को उद्यत हो गई। मूर्ख लड़का पानी से उलझ रहा है, यहाँ कैसी जबर्दस्त कारगुजारी हुई है—सो नही देखता ! ऐसा पक्का भाड़ उसने कही देखा भी है !

पर सोचा—अभी नही; पहले कुटी तो बना लूँ। यह सोच-कर बालिका ने रेत की एक चुटकी ली और बडे धीरे से भाड़ के सिर पर छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेती धीरे-धीरे छोड़कर सुरबाला ने भाड़ के सिर पर अपनी कुटी तैयार कर ली।

भाड़ तैयार हो गया। पर पड़ोस का भाड़ जब बालिका ने पूरा-पूरा याद किया, तो पता चला एक कमी रह गई। धुआँ कहाँ से निकलेगा ? तनिक सोचकर उसने एक सीक टेढ़ी करके उसमें गाढ दी। बस, ब्रह्माण्ड का सबसे सम्पूर्ण भाड़ और विश्व की सबसे सुन्दर वस्तु तैयार हो गई।

वह उस उजड्ड मनोहर को इस अपूर्व कारीगरी का दर्शन करावेगी, पर अभी जरा देख तो और ले। सुरबाला मुँह बनाये आँखें स्थिर करके इस भाड़-श्रेष्ठ को देख-देखकर विस्मित और पुलकित होने लगी। परमात्मा कहां विराजते है, कोई इस बाला से पूछे, तो वह बताये इस भाड़ के जादू में।

मनोहर अपनी 'सुरी-सुरो-सुर्री' को याद कर पानी से नाता तोड़, हाथ की लकडी को भरपूर जोर से गंगा की धारा में फेंक कर जब मुडा, तब श्री सुरबाला देवी एकटक अपनी परमात्मलीला के जादू को बूझने और सुलझान में लगी हुई थीं।

मनोहर ने बाला की दृष्टि का अनुसरण कर देखा—श्रीमती

जी बिलकुल अपने भाड़ में अटकी हुई हैं। उसने ज़ोर से कहकहा लगाकर एक लात में भाड़ का काम तमाम कर दिया!

न जाने क्या किला फतह किया हो, ऐसे गर्व से भरकर निर्दय मनोहर चिल्लाया—सुर्री रानी!

सुर्रो रानी मूक खड़ी थी। उनके मुँह पर जहाँ अभी एक विशुद्ध रस था, वहाँ अब एक शून्य फैल गया। रानी के सामने एक स्वर्ग आ खड़ा हुआ था। वह उन्हीं के हाथ का बनाया हुआ था और वह एक व्यक्ति को अपने साथ लेकर उस स्वर्ग की एक-एक मनोरमता और स्वर्गीयता को दिखलाना चाहती थी। हाँ, हत! वही व्यक्ति आया और उसने अपनी लात से उसे तोड़-फोड़ डाला! रानी हमारी बड़ी व्यथा से भर गई।

हमारे विद्वान् पाठको मे से कोई होता तो उन मूर्खों को समझाता—"यह ससार क्षणभंगुर है। इसमें दुःख क्या और सुख क्या। जो जिससे बनाया है वह उसी में लय हो जाता है—इसमें शोक और उद्वेग की क्या बात है? यह संसार जल का बुदबुदा है, फूटकर किसी रोज जल में ही मिल जायगा। फूट जाने में ही बुदबुदे की सार्थकता है। जो यह नहीं समझते, वे दया के पात्र है। री मूर्खा लड़की, तू समझ। सब ब्रह्माण्ड ब्रह्म का है, और उसी मे लीन हो जायगा। इससे तू किस लिए व्यर्थ व्यथा सह रही है? रेत का तेरा भाड़ क्षणिक था, क्षण में लुप्त हो गया, रेत में मिल गया। इस पर खेद मत कर, इससे शिक्षा ले। जिसने लात मारकर उसे तोड़ा है वह तो परमात्मा का केवल साधन मात्र है। परमात्मा तुझे नवीन शिक्षा देना चाहते है। लड़की, तू मूर्ख क्यों बनती है? परमात्मा की इस शिक्षा को समझ और परमात्मा तक पहुँचने का प्रयास कर। आदि-आदि।"

पर बेचारी बालिका का दुर्भाग्य, कोई विज्ञ श्रीमान् पण्डित

तत्त्वोपदेश के लिए उस गंगा-तट पर नही पहुँच सके। हमें तो यह भी सन्देह है कि सुर्री एकदम इतनी जड़ मूर्खा है कि यदि कोई परोपकार-रत पण्डित परमात्म-निर्देश से वहाँ पहुँचकर उपदेश देने भी लगते, तो वह उनकी बात को न सुनती और न समझती। पर, अब तो वहाँ निर्बुद्ध शठ मनोहर के सिवा कोई नही है और मनोहर विश्व तत्त्व की एक भी बात नहीं जानता। उसका मन न जाने कैसा हो रहा है। कोई जैसे उसे भीतर-ही-भीतर मसोसे डाल रहा है। लेकिन उसने बन कर कहा—"सुरो, दुत पगली! रूठती है?"

सुरबाला वैसी खड़ी रही।

"सुरी, रूठती क्यों है?"

बाला तनिक न हिली।

"सुरी। सुरी!...ओ, सुरो।"

अब बनना न हो सका। मनोहर की आवाज हठात् कँपी-सी निकली।

सुरबाला अब और मुह फेरकर खड़ी हो गई। स्वर के इस कम्पन का सामना शायद उससे न हो सका।

"सुरी,...ओ सुरिया! मै मनोहर हूं ..मनोहर! मुझे मारती नहीं!" यह मनोहर ने उसके पीठ पीछे से कहा और ऐसे कहा, जैसे वह प्रकट करना चाहता है कि वह रो नहीं रहा है।

"हम नहीं बोलते।" बालिका से बिना बोले न रहा गया। उसका भाड़ शायद स्वर्गविलीन हो गया। उसका स्थान और बाला की सारी दुनिया का स्थान काँपती हुई मनोहर की आवाज ने ले लिया।

मनोहर ने बड़ा बल लगाकर कहा—"सुरी, मनोहर तेरे पीछे खड़ा है। वह बड़ा दुष्ट है। बोल मत, पर उस पर रेत क्यों नहीं फेंक देती, मार क्यों नहीं देती! उसे एक थप्पड़ लगा—वह अब

कभी कसूर नहीं करेगा।"

बाला ने कड़ककर कहा—"चुप रहो जी!"

"चुप रहता हूँ, पर मुझे देखोगी भी नहीं!"

"नही देखते।"

"अच्छा मत देखो। मत ही देखो। मै कभी सामने न आऊँगा, मै इसी लायक हूँ।"

"कह दिया तुमसे, तुम चुप रहो। हम नही बोलते।"

बालिका में व्यथा और क्रोध कभी का खत्म हो चुका था। वह तो पिघलकर बह चुका था। यह कुछ और ही भाव था। यह एक उल्लास था जो व्याजकोप का रूप धर रहा था। दूसरे शब्दो में यह स्त्रीत्व था।

मनोहर बोला—"लो सुरी, मै नहीं बोलता। मैं बैठ जाता हूँ। यहीं बैठा रहूँगा। तुम जब तक न कहोगी, न उठूँगा, न बोलूँगा।"

मनोहर चुप बैठ गया। कुछ क्षण बाद हारकर सुरबाला बोली—"हमारा भाड़ क्यों तोड़ा जी? हमारा भाड़ बना के दो!"

"लो अभी लो।"

"हम वैसा ही लेंगे।"

"वैसा ही लो, उससे भी अच्छा।"

"उसपै हमारी कुटी थी, उसपै धुएँ का रास्ता था।"

"लो सब लो। बताती न जाओ, मैं बनाता जाऊँ।"

"हम नही बताएँगे। तुमने क्यों तोड़ा? तुमने तोड़ा, तुम्हीं बनाओ।"

"अच्छा, पर तुम इधर देखो तो।"

"हम नहीं देखते, पहले भाड़ बना[illegible]

मनोहर ने एक भाड़ बनाकर तैयार किया। कहा—"लो, भाड़ बन गया।"

"बन गया?"

"हाँ।"

"धुएँ का रास्ता बनाया? कुटी बनाई?"

"सो कैसे बनाऊँ—बताओ तो।"

"पहले बनाओ, तब बताऊँगी।"

भाड़ के सिर पर एक सींक लगाकर और एक-एक पत्ते की ओट लगाकर कहा—"बना दिया।"

तुरन्त मुड़कर सुरबाला ने कहा—"अच्छा, दिखाओ।"

'सींक ठीक नहीं लगी जी', 'पत्ता ऐसे लगेगा' आदि आदि संशोधन कर चुकने पर मनोहर को हुक्म हुआ—

"थोड़ा पानी लाओ, भाड़ के सिर पर डालेंगे।"

मनोहर पानी लाया।

गंगाजल से कर-पात्रों द्वारा वह भाड़ का अभिषेक करना ही चाहता था कि सुर्री रानी ने एक लात से भाड़ के सिर को चकनाचूर कर दिया!

सुरबाला रानी हँसी से नाच उठी। मनोहर उत्फुल्लता से कहकहा लगाने लगा। उस निर्जन प्रान्त में वह निर्मल शिशु-हास्य-रव लहरे लेता हुआ व्याप्त हो गया। सूरज महाराज बालकों जैसे लाल-लाल मुँह से गुलाबी-गुलाबी हँसी हँस रहे थे। गंगा मानो जान-बूझकर किलकारियाँ-मार रही थी। और—और वे लम्बे ऊँचे-ऊँचे दिग्गज पेड़ दार्शनिक पंडितों की भाँति सब हास्य की सार-शून्यता पर मानो मन-ही-मन गम्भीर तत्त्वावलोकन कर, हँसी में भूले हुए मूर्खों पर थोड़ी दया बख्शना चाह रहे थे!

—जैनेन्द्र कुमार

ताजमहल की आत्म-कहानी

अपन विधाता को मैं अपने अक में लिए बैठा हूँ। जिसने मुझे खड़ा किया वही मेरी गोद मे सो रहा है, जिसके लिए मैं खड़ा किया गया वह तो मेरी गोद मे सो रही है। उनके इस अप्रतिम स्नेह को पाकर मै गर्व से फूला नही समाता। शताब्दियाँ बीत गई पर उनके स्नेह का वैभव आज भी मुझ मे सुरक्षित है। इस वैभव को ससार जाने कब से विस्मय-विमुग्ध होकर देख रहा है। दुनिया के महान् आश्चर्यों में मेरी गणना की जाती है।

सम्राट् शाहजहाँ और सम्राज्ञी मुमताज की मै प्रेम-समाधि हूँ। प्रेम की पवित्रता और तल्लीनता का मै स्मारक हूँ। भेद-भावों में पडे मनुष्यों को मैं यह संकेत कर रहा हूँ कि प्रेम ईश्वरीय सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति है। दो बिछुडे हुए हृदय मेरी गोद मे जुड़े हुए है। अत्याचारियो ने समय-समय पर आक्रमण किया —मुझे भी लूटा गया। मेरे आभूषणों, रत्नों और जवाहरो को लोग ले गये। मेरे शरीर को उन्होंने नग्न कर दिया। पर मेरे अन्दर जो वैभव छिपा पड़ा है—जो दो हृदय जुड़े पडे है...उन्हें लूटने का साहस नृशंस से नृशंस अत्याचारी को भी नही हो सका। प्रेम की लौ के सामने उनकी आँखे खुली नही रह सकी। मैं भौतिक ऐश्वर्य का स्मारक नहीं, प्रेम का स्मारक हूँ। मेरी नीव में उस वियोगी सम्राट् के दो बूंद आँसू चू पड़े थे। कहते है आकाश का हृदय भी उन आँसुओं की स्मृति में द्रवीभूत हो उठता है और दो बूंद आँसुओं से वह मेरे हृदय को सीचने का

प्रतिवर्ष प्रयत्न करता है । पर मेरे हृदय तक उसके सभी आँसू पहुँच जाते है—कल्पना जगत् के विश्वासों पर मै विश्वास नहीं करता । उसके आँसुओं से तो मेरा कलेवर भी निखर उठता है।

यमुना के किनारे पर मैं खड़ा हूँ। आगरे के स्नेह को मैं भूल नही सकता। उसे छोड़कर मैं कही नही जा सकता । योगी की समाधि की तरह मैं आगरे में यमुना के किनारे अपनी स्मृतियों को संजोने का प्रयास करता हूँ। बावली यमुना भी मेरे अतीत वैभव के स्वर्णिम दिनों को याद कर दुःख से सूख रही है। वह श्यामा हो गई है । मुझे उस पर स्वाभाविक रूप से स्नेह हैं। हम पुराने साथी हैं। वह हिलोरें लेकर मुझे प्यार करती है। अपनी सुनाती है, मेरी सुनती है।

कहते हैं, मैं वास्तविकता का अद्वितीय उदाहरण हूँ। श्वेत संगमरमर से मेरा निर्माण हुआ । मेरे निर्माण मे करोड़ों रुपये व्यय हुए। हजारों आदमियों का पेट भरा । एक युग में भी मेरा निर्माण कार्य समाप्त न हो सका ।

मृत्यु-शय्या पर अन्तिम साँसें गिनती हुई मुमताज की यही तो अन्तिम इच्छा थी। उस स्वर्गीय देवी की बात शाहजहाँ कैसे टाल सकता था ? इसीलिये तो उसकी इच्छानुसार उसकी यह बेजोड़ कब्र अस्तित्व में आई। कब्र ? पर यह कब्र अभागी नहीं । रात-दिन इसे देखने न जाने कितने लोग आते हैं। सुदूर विदेशों से यात्री आकर मुझे देखकर अपना आना सार्थक समझते हैं। मेरे पास आकर उन्हें श्रद्धा से झुक जाना पड़ता है । उनके मनोभावों को पढ़ने का मुझे भी अवसर मिलता है। अपने सम्बन्ध में उनकी धारणाओं को देख मैं मुस्करा उठता हूँ। उसने अपने पति से कहा—'प्रिय ! अगर मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम कोई अनुपम स्मारक बनाने का वचन दो तो अभी मैं इस ताज के उस बुर्ज से कूदकर अपने प्राण त्याग दूँ।'...क्या कल्पना है ! मुझे भय है, कोई सच-मुच मेरे प्रांगण में प्राणों का विसर्जन न कर दे। मानव-समाज की

बर्बरता को देखकर आज मेरा पाषाण हृदय भी क्षुब्ध हो उठा है। मुझ-सा स्मारक अब और किसी को अपने अन्तर में स्थान देने में अपने को असमर्थ पा रहा है।

मुगल साम्राज्य के ऐश्वर्य के दिन बीत गये। भारत की इस असहाय अवस्था को देखकर आज मुझे दुःख होता है। सिनेमा के पट पर मेरी छवि अंकित करने के लिये लोग आते हैं, मेरे चित्र उतारते हैं। चित्रकार अपनी तूलिका से मुझे अमर करना चाहता है। कवि अपनी रचना में मुझे चिरजीवी बनाने का प्रयत्न करता है। पर मेरा हृदय विदीर्ण होता जा रहा है। सम्राट् और सम्राज्ञी भी अपने भारत की इस दुरवस्था को देखकर म्लान हो रहे हैं। अगर यही अवस्था रही तो दुःख के बोझ से मै ढह जाऊंगा— आज नहीं, कल सही। मैं चाहता हूँ मुझ से प्रेम का पाठ लेकर भारतवासी एक सूत्र में बँध जाएँ और अपने देश का कल्याण करें।

मुझे किसी से प्रतिद्वन्द्विता नही। आग़ाखां महल आज इस युग में मेरा एक सच्चा साथी हुआ है। कस्तूरबा उसकी गोद में है। मेरी गोद में प्रेम की देवी है। उसकी गोद में कर्त्तव्य की देवी है। मुझे विश्वास है, इस प्रेम और कर्त्तव्य के सन्देश को लेकर मानवता अपना कल्याण करेगी।

—गुलाबराय

नाखून क्यों बढ़ते हैं ?

बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देने वाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ लिया कि आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून क्यों बढ़ जाते हैं। बच्चे कुछ दिन तक अगर उन्हें बढ़ने दें, तो माँ-बाप अक्सर उन्हें डाँटा करते हैं पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ा करते हैं। काट दीजिये, वे चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लेंगे, पर निर्लज्ज अपराधी की भाँति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर। आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं ?

कुछ लाख ही वर्षों की बात है, जब मनुष्य जंगली था; वनमानुष जैसा। उसे नाखून की जरूरत थी। उसकी जीवन-रक्षा के लिए नाखून बहुत जरूरी थे। असल में वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखून के बाद ही उनका स्थान था। उन दिनों उसे जूझना पड़ता था, प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ना पड़ता था, नाखून उसके लिए आवश्यक अंग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने अंग से बाहर की वस्तुओं का सहारा लेने लगा। पत्थर के ढेले और पेड़ की डालें काम में लाने लगा। (रामचन्द्रजी की वानरी सेना के पास ऐसे ही अस्त्र थे)। उसने हड्डियों के हथियार बनाये। इन हड्डी के हथियारों में सबसे मजबूत और ऐतिहासिक था देवताओं के राजा का वज्र, जो दधीचि मुनि की हड्डियों से बना था। मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने धातु के हथियार पाये। जिनके पास लोहे के शस्त्र और अस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओं के राजा तक को मनुष्यों के राजा से इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्यों के राजा

के पास लोहे के अस्त्र थे। असुरों के पास अनेक विद्याएँ थीं, पर लोहे के अस्त्र नही थे, शायद घोडे भी नहीं थे। आर्यों के पास ये दोनों चीजें थी। आर्य विजयी हुए। फिर इतिहास अपनी गति से बढ़ता गया। नाग हारे, सुपर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहे के अस्त्रों ने बाजी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीते वाली बन्दूकों ने, कारतूसों ने, तोपो ने, बमों ने, बमवर्षक वायुयानों ने इतिहास को किस कीचड़-भरे घाट तक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नखधर मनुष्य अब एटम बम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा है! पर उसके नाखून अब भी बढ रहे है। अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतर वाले अस्त्र से वंचित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भुलाया नही जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नख-दन्तावलम्बी जीव हो—पशु के साथ एक ही सतह पर विचरने वाले और चरने वाले।

ततः किम्। मै हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चो को नाखून न काटने के लिए डाँटता है। किसी दिन—कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व—वह अपने बच्चों को नाखून नष्ट करने पर डाँटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि यह अब भी नाखून को जिलाये जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कम्बख्त रोज बढते है, क्योंकि वे अन्धे है, नही जानते कि मनुष्य को इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है! मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखून को नही चाहता। उसके भीतर बर्बर-युग का कोई अवशेष रह जाय, यह उसे असह्य है। लेकिन यह भी कैसे कहूँ, नाखून काटने से क्या होता है? मनुष्य की बर्बरता घटी कहाँ है, वह बढ़ती ही जा रही है! मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकाण्ड बार-बार थोडे ही हुआ है। वह तो उसका नवीनतम रूप है! मैं मनुष्य के नाखूनो की ओर देखता हूँ, तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ। ये उसकी

भयंकर पाशवी वृत्ति के जीवन्त प्रतीक हैं। मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मनुष्य ने नाखून को सुकुमार विनोदों के लिए उपयोग में लाना शुरू किया था। वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जम के सँवारता था। उनके काटने की कला काफी मनोरंजक बताई गयी है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दन्तुल आदि विविध आकृतियों के नाखून उन दिनों विलासी नागरिकों के न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक (मोम) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड़ देश के लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखों को पसन्द करते थे और दाक्षणात्य लोग छोटे नखों को। अपनी-अपनी रुचि है, देश की भी और काल की भी! लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियों को और नीचे खीचने वाली वस्तुओं को भारतवर्ष ने मनुष्योचित बनाया है, यह बात चाहें भी तो भूल नहीं सकती।

मानव-शरीर का अध्ययन करने वाले प्राणि-विज्ञानियों का निश्चित मत है कि मानव-चित्त की भांति मानव-शरीर में भी बहुत सी अभ्यास-जन्य सहज वृत्तियाँ रह गयी हैं। दीर्घ काल तक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीर ने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तियाँ अनायास ही, और शरीर के अनजान में भी, अपने आप काम करती है। नाखून का बढ़ना उनमें से एक है, केश का बढ़ना दूसरा है, दाँत का दुबारा उगना तीसरा है, पलकों का गिरना चौथा है। और असल में सहजात वृत्तियाँ अनजान की स्मृतियों को ही कहते हैं। हमारी भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीर की, मन की और वाक् की अनायास घटने वाली वृत्तियों के विषय में विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचानने में बहुत

सहायता मिले। पर कौन सोचता है ? सोचता तो क्या उसे इतना भी पता नही चलता कि उसके भीतर नख बढ़ा लेने की जो सहजात वृत्ति है, वह उसके पशुत्व का प्रमाण है। काटने की जो प्रवृत्ति है, वह उसकी मनुष्यता की निशानी है और यद्यपि पशुत्व के चिन्ह उसके भीतर रह गये है, पर वह पशुत्व को छोड़ चुका है। पशु बनकर वह आगे नही बढ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिए। अस्त्र बढाने की प्रवृत्ति मनुष्यता की विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है—किस ओर ? मनुष्य किस ओर बढ रहा है ? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर, अस्त्र बढाने की ओर या अस्त्र काटने की ओर। मेरी निर्बोध बालिका ने मानो मनुष्य-जाति से ही प्रश्न किया है—जानते हो, नाखून क्यो बढ़ते हैं ? यह हमारी पशुता के अवशेष है। मै भी पूछता हूँ—जानते हो, ये अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं ? ये हमारी पशुता की निशानी हैं, भारतीय भाषाओं में प्रायः ही अंग्रेजी के 'इण्डिपेण्डेन्स' शब्द का समानार्थक शब्द नही व्यवहृत होता। १५ अगस्त को जब अंग्रेजी भाषा के पत्र 'इण्डिपेण्डेन्स' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र 'स्वाधीनता-दिवस' की चर्चा कर रहे थे। 'इण्डिपेण्डेन्स' का अर्थ है अनधीनता या किसी की अधीनता का अभाव, पर 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अंग्रेजी मे कहना हो, तो 'सेल्फडिपेण्डेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि इतने दिनों तक अंग्रेजी की अनुवर्तिता करने के बाद भी भारतवर्ष 'इण्डिपेण्डेन्स' को आधीनता क्यों नही कह सका ? उसने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किये—स्वतन्त्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता—उन सब में 'स्व' का बन्धन अवश्य रखा। यह क्या संयोग की बात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजान में हमारी भाषा द्वारा प्रकट होती रही है ? मुझे प्राणि-विज्ञान की बात फिर याद आती है—सहजात वृत्ति अनजानी स्मृतियों का ही नाम है। स्वराज्य होने के बाद स्वभावतः ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे

है कि इस देश को सच्चे अर्थ में सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देश के लोग पहली बार यह सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रों में इस समस्या को नाना भावो और नाना पहलुओ से विचारा गया है। हम कोई नौसिखुए नही है, जो रातों-रात अनजान जगल में पहुँचाकर अरक्षित छोड दिए गये हों। हमारी परम्परा महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और सस्कार उज्ज्वल है! हमारे अनजान में भी ये बातें हमें एक खास दिशा में सोचने की प्रेरणा देती है। यह जरूर है कि परिस्थितियाँ बदल गई हैं। उपकरण नये हो गये हैं और उलझनों की मात्रा भी बहुत बढ़ गई है, पर मूल समस्याएँ बहुत अधिक नही बदली है। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूप में न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का फल है। वह 'स्व' के बन्धन को आसानी से नही छोड़ सकता। अपने आप पर अपने आप के द्वारा लगाया हुआ बन्धन हमारी सस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है। मै ऐसा तो नही मानता जो कुछ हमारा पुराना है, जो कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहे। पुराने का 'मोह' सब समय वाछनीय ही नही होता। मरे बच्चे को गोद में दबाये रहने वाली 'बंदरिया' मनुष्य का आदर्श नही बन सकती। परन्तु मै ऐसा भी नही सोच सकता कि हम नयी अनुसधित्सा के नशे में चूर होकर अपना सर्वस्व खो दे। कालिदास ने कहा था कि सब पुराने अच्छे ही नहीं होते, सब नये खराब ही नही होते; भले लोग दोनों की जाँच कर लेते है; जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते है, और मूढ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते है। सो हमें परीक्षा करके हितकर बात सोच लेनी होगी और अगर हमारे पूर्वसंचित भाण्डार में वह हितकर वस्तु निकल आवे, तो इससे बढ़कर और क्या हो सकता है?

जातियाँ इस देश मे अनेक आई है। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक बस भी गई है। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर

खड़ी और नाना ओर मुख करके चलने वाली इन जातियों के लिए सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी। भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से, अनेक ओर से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी। पर एक बात उन्होने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही बधनों में अपने को बांधना। मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है? आहार, निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियो के। लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें सयम है, दूसरे के सुख-दु ख के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। मनुष्य के स्वय के उद्भावित बधन हैं। इसीलिए मनुष्य झगड़े-टटे को अपना आदर्श नही मानता, गुस्से में आकर चढ़ दौड़ने वाले अविवेकी को बुरा समझता है और वचन, मन और शरीर से किये गये असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी खास जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्यमात्र का धर्म है। महाभारत मे इसलिए निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोध को सब वर्णों का सामान्य धर्म कहा है—

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च॥

अन्यत्र इसमें निरन्तर दानशीलता को भी गिनाया गया है (अनुशासन १२०.१०)। गौतम ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह सबके दुःख-सुख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्म-निर्मित बन्धन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्म का मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजान में भी हमारी भाषा में यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन मुझे नाखून के बढ़ने पर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमी को पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेने को कमर कसे है।

मनुष्य को सुख कैसे मिलेगा? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओं की कमी है, और मशीन बैठाओ, और उत्पादन बढ़ाओ

और धन की वृद्धि करो, और बाह्य उपकरणों की ताकत बढ़ाओ। एक बूढ़ा था। उसने कहा—बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो। हिंसा को मन से दूर करो, मिथ्या को हटाओ, क्रोध और द्वेष को दूर करो, लोक के लिए कष्ट सहो। आराम की बात मत सोचो, प्रेम की बात सोचो; आत्म-पोषण की बात सोचो, काम करने की बात सोचो। उसने कहा—प्रेम ही बड़ी चीज है, क्योंकि वह हमारे भीतर है। उच्छृंखलता पशु की प्रवृत्ति है, 'स्व' का बन्धन मनुष्य का स्वभाव है। बूढे की बात अच्छी लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दी गई। आदमी के नाखून बढने की प्रवृत्ति ही हावी हुई। मैं हैरान होकर सोचता हूँ—बूढे ने कितनी गहराई में बैठकर मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता का पता लगाया था।

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जब कि मनुष्य के नाखूनों का बढ़ना बन्द हो जायगा। प्राणिशास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि मनुष्य का अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड़ जायगा, जिस प्रकार उसकी पूँछ झड गई है। उस दिन मनुष्य की पशुता भी लुप्त हो जायगी। शायद उस दिन वह मरणास्त्रों का प्रयोग भी बन्द कर देगा। तब तक इस बात से छोटे बच्चों को परिचित करा देना वांछनीय जान पडता है कि नाखून का बढना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नही बढने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवन में अस्त्र-शस्त्रों का बढने देना मनुष्य की पशुता की निशानी है और उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यत्व का तकाजा है। मनुष्य में जो घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाये—आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को सयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है। बच्चे यह जाने तो अच्छा हो कि अभ्यास और तप से प्राप्त वस्तुएँ मनुष्य की महिमा को सूचित करती है।

सफलता और चरितार्थता में अन्तर है। मनुष्य मरणास्त्रों के संचय से, बाह्य उपकरणों के बाहुल्य से उस वस्तु को पा भी

सकता है, जिस उसने बड़े आडम्बर के साथ सफलता नाम दे रखा है। परन्तु मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सब के मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है। नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अन्ध सहजात वृत्ति का परिणाम है, जो उसके जीवन में सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस 'स्व'-निर्धारित आत्म-बन्धन का फल है जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाता है।

कम्बख्त नाखून बढ़ते है तो बढ़े, मनुष्य उन्हे बढ़ने नही देगा।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

जयशंकर 'प्रसाद'

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस; दिसम्बर का महीना, सुबह का समय; बर्फीली हवा बह रही थी, काटती-सी; नगवा (हिन्दू विश्व-विद्यालय) की सड़क पर इक्के की तलाश में हम खड़े थे। "खटर-खटर" वह आ रहा था; आ गया। मटमैले रग की चादर में काँपते हुए इक्केवान ने पूछा—

"कहाँ चली बाबू ?"

"शहर।"

"गुधौलिया ? चौक ? लंका ? कहाँ ?"

"सराय गोवर्धन।"

"आवा बैठा।"

× × ×

हम अपने एक मित्र के यहाँ सराय गोवर्धन पहुँचे। वह आँखे मलकर खड़े ही थे।

थोड़ी ही देर मे उन्होंने कहा—"देखते हो, वे कौन है ?"

मैंने देखा—ठिगना गठा हुआ शरीर, गोल मुख, 'बारहवर्णी' स्वर्णभार से देदीप्यमान। कहा—"मैंने इन्हें 'माधुरी' मे देखा है। ये जयशंकर प्रसाद हैं।"

"चलोगे मिलने ?"—मित्र ने पूछा।

"तुम तक आते समय मन में तुम ही न थे, ये भी थे।"—मुस्कराकर मैंने कहा।

× × ×

हम सब उनके स्थान पर गये। परिचय-शिष्टाचार के पश्चात्

हम उनके पास बैठ गए। उस समय 'आँसू' का प्रकाशन हो चुका था, उसकी मादकता से नवयुवकों का हृदय झूम-झूम उठता था। कविता मे वह 'छायावाद' का युग कहा जाता था। छायावाद शब्द पर खूब चख-चख मची हुई थी। स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अनन्त से टूट पडने वाले इस 'वाद' की रचनाओ की 'सुकवि किकर' के वेष मे बडी कड़ी आलोचना की थी। स्व० आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल की भी भौहे तन रही थी। उनकी आलोचनाओ मे ऐसी कविताओं के प्रति यह झुँझलाहट भरी आवाज सुन पड़ती थी—

"लोगन कवित्त कीबो खेल करि जान्यौ है ?"

नयी प्रवृत्ति के समर्थको में भी दो मत थे। एक इन कृतियों मे अध्यात्मवाद—आत्मा-परमात्मा का 'विरह-पीड़न' और दूसरा लौकिकता यानी शुद्ध 'प्रेम की पीर' ही देखता था। उस समय भी मुझे दूसरा मत ही अधिक साधु प्रतीत होता था। काशी के 'आज' मे छायावाद-रहस्यवाद पर जो विवाद छिडा था उसमें भाग लेते हुए मैंने 'प्रसाद' की रचनाओं में प्रेमवाद ही का प्रतिपादन किया था। 'आँसू' के सम्बन्ध मे भी यही धारणा प्रकट की थी। जो व्यक्ति रहस्यवादी के गौरवपूर्ण नाम से स्मरण किया जाता है, उसे मैं लौकिक भावनाओ का स्रष्टा कहने का दु साहस कर चुका हूँ। अत वह मुझसे किस तरह मुक्त हृदय से मिल सकेगा ?…मैं सोच रहा था। इतने ही में मैंने सुना—" 'आँसू' सुनोगे ?"—मेरे मित्र बोल रहे थे।

"भला ऐसा अवसर और कब मिलेगा ?"—मैंने मित्र का समर्थन किया।

'प्रसाद' ज़रा 'हाँ-ना' के बाद ही राज़ी हो गए। सुखासन में बैठे-बैठे वे—

"इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?"

गा उठे; गाते ही गये, 'आंसू' समाप्त होने तक । कितनी तन्मयता, भाव-मुग्धता उनके वदन पर अंकित थी ! उनकी वाणी मे मिठास थी—छिपा-सा दर्द भी फूटने की चेष्टा करता था । बिदा के समय अपनी दो-तीन पुस्तके भी उन्होंने भेट की । दूरी लेकर गया; निकटता पाकर लौटा ।

× × ×

"प्रसादजी का मानसिक धरातल सचमुच बहुत ऊँचा है। उनका हृदय रस का खजाना है। मेरी धारणा थी 'आज' में उनके सम्बन्ध में जो दो-चार अप्रिय वाक्य मेरे द्वारा लिखे गये थे उनका उनके मन पर असर होगा ।"—मै कह गया ।

मेरे मित्र बोले—"नही जी, तुमने तो कुछ भी नहीं लिखा । वे कड़वी से कड़वी आलोचनाएँ पी जाते है ।"

"शकर जिस तरह कालकूट ?"—मैने कहा ।

"और क्या ? तभी तो उन्हें कहते है 'जयशंकर' !"—मित्र बोले और सब हँस पड़े ।

× × ×

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस के बाद सन् उन्नीस सौ अड़तीस मे मैं फिर काशी गया । उस दिन गोवर्धन की 'सराय' सूनी थी, 'शंकर' अन्तर्धान हो गए थे। उनका 'प्रसाद' बँट चुका था—केवल उनकी 'जय'-ध्वनि सुन पड़ती थी । आज भी वह सुनाई दे रही है, कल भी देगी ।

जिज्ञासा थी—काश 'प्रसाद' के जीवन की झाँकी देखने को मिलती ! जानता, कवि ने अपने को अपनी कृतियों में किस तरह छिपाने का कौशल किया है । कवि के जीवन की खोज दो प्रकार से की जाती है—एक, कवि की कृतियों से, जब वह अपने सम्बन्ध में उनमें कुछ लिखता है। दूसरे, कवि के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों से, एवं उसके परिचितों द्वारा लिखित संस्मरणों आदि

से। पहले प्रकार से कवि के जीवन का जो ज्ञान उपलब्ध किया जाता है उसे भीतरी साक्ष्य और दूसरे प्रकार से प्राप्त ज्ञान को बाहरी साक्ष्य कहते है। 'प्रसाद' जी ने अपने जीवन के विषय में स्वयं बहुत कम कहा है। काशी के 'हस' के आत्मकथाक में हिन्दी के बहुत से रथी-महारथियों के आत्मचरित छपे है। उसमे प्रेमचन्द जी के बड़े आग्रह पर 'प्रसाद' जी ने अपना परिचय निम्न पक्तियों मे दिया था—

"मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे यह गागर रीती।
किंतु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना, अरी सरलते! तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूले अपनी, यह प्रवंचना औरों को दिखलाऊँ मै।
उज्ज्वल गाथा कसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की?
अरे खिलखिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मै स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते-आते मुसकाकर जो भाग गया।
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पंथा की।
जीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरी कथा की?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मै मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म-कथा?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।"

उक्त पंक्तियों में हमें कवि ने अपने सांसारिक जीवन की घटनाओं का विवरण नही दिया। उन्होने साकेतिक भाषा मे अपनी आशा और निराशाओ का एक करुण चित्र अवश्य प्रस्तुत किया है, जिससे हम निम्न अनुमान निकाल सकते है—

(१) 'प्रसाद' जी ने किसी से प्रेम किया था।

(२) उसकी रूप-माधुरी ने उन्हें आत्म-विभोर बना दिया था।

(३) किसी कारणवश वह उन्हें प्राप्त न हो सका।

("आलिंगन में आते-आते मुसका कर वह भाग गया।") अतः उन्हें उसका अभाव विह्वल बनाता रहा।

(४) प्रिय की सजल स्मृति उन्हे आजीवन बनी रही और उन्हें काव्य की सरस प्रेरणा प्रदान करती रही।

बाह्यसाक्ष्य में हमें उनके परम स्नेही श्री विनोदशंकर व्यास के संस्मरण प्राप्त होते है। उन्होंने लिखा है—" 'प्रसाद' जी की अल्हड़ जवानी में भी एक प्रेम-घटना घटी थी। यह मुझे बाद में पता लगा। १३ फरवरी, १९३६ ई० को मैंने उनसे पूछा—'आपकी रचनाओं में प्रेम का उज्ज्वल हिस्सा छिपा हुआ है; लेकिन मुझे आपने इतने दिनों मे भी यह नही बतलाया कि आपकी वह अज्ञात प्रेयसी कौन थी ?' उन्होने जो कुछ उत्तर दिया उसके पश्चात् फिर इस सम्बन्ध में मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा।" व्यास जी की इन पंक्तियों से भी हमारे उक्त निष्कर्षों का समर्थन होता है। 'प्रसाद' के जीवन का यह अंग जानना इसलिए आवश्यक है कि उनकी कृतियों में वह स्पन्दन का काम कर रहा है।

उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हुए विनोदशंकरजी लिखते हैं—"प्रसाद का सामाजिक जीवन बहुत ही स्पष्ट था। मैंने उन्हें सदैव सात्विक पाया। पान को छोड़कर उन्हें और कोई व्यसन

नहीं था। वह भाँग तक नही पीते थे—मांस-मदिरा से हार्दिक घृणा-सी थी।

"चौदह वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन साथ रहते हुए भी मैने उनमें कोई दुर्गुण नही देखा।...'प्रसाद' जी का व्यायाम की ओर बचपन ही से अभ्यास था। वह एक हजार बैठक और पाँच सौ दण्ड अपने ज़माने में प्रतिदिन करते थे, फल, दूध और घी के अतिरिक्त आधा सेर बादाम प्रतिदिन खाते थे। जवानी मे ढाका के मलमल का कुर्त्ता और 'शान्तिपुरी' धोती पहनते थे। लेकिन बाद मे खद्दर का भी उपयोग करते रहे। जाड़े मे सुँघनी रंग के पट्टू का कुर्त्ता अथवा सकरपारे की सीवन का रुईदार ओवरकोट पहनते थे। आँखो पर चश्मा और हाथ में डण्डा। प्रसाद जी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था।"

प्रसादजी ने अपने जीवन मे पुरस्कार रूप मे एक पैसा भी किसी पत्र-पत्रिका से नही लिया। निःस्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा करते रहे। हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) और नागरी प्रचारिणी सभा से २००) पुरस्कार उन्हे मिला था। यह ७००) भी उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को अपने भाई के स्मारक स्वरूप दान दे दिया।... उन्होने कभी किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति होना स्वीकार नही किया। कवि सम्मेलनों मे अपनी कविताएँ सुनाना उन्हे पसन्द न था · (वे) धार्मिक मनोवृत्ति के पुरुष थे।..शिव के उपासक.. ·। आचार-व्यवहार में भी आस्तिक थे। किसी के हाथ की कच्ची रसोई खाने तथा जूता पहनकर पानी आदि पीने से परहेज रखने में भी वह दृढ़ थे। अपने अन्तिम समय तक जब पुजारी प्रतिदिन की तरह पूजा करके शिव का चरणामृत, बेलपत्र और फूल लाता तो वह उसे श्रद्धा से आँखों और मस्तक पर लगा लेते।

प्रसादजी बड़े हास्यप्रिय थे। वह बडा सुन्दर मजाक करते थे, मित्रमण्डल में अपने अन्तरंगो के साथ।

"उन्हे पुष्पो से अधिक प्रेम था। उन्होंने अपने मकान के सामने एक छोटा-सा बगीचा लगाया था, तरह-तरह के फूलों की क्यारियाँ बनी थी। गुलाब, जूही, बेला, रजनीगधा इत्यादि जब फूलते तो मुग्ध होकर वे देखते।···· पारिजात के वृक्ष के नीचे एक पत्थर की चौकी थी। उसी पर बैठकर प्रसादजी अपनी रचनाएँ सुनाते थे।" (आशा है, प्रसादजी के मित्र एव साहित्य-प्रेमी उम ऐतिहासिक पारिजात वृक्ष और पत्थर की चौकी को चिर-स्थायी बनाने का प्रयत्न करेगे।)

इतना सब पढ चुकने के बाद भी आप जानना चाहते है कि 'प्रसाद' जी कौन थे? किस वश में उत्पन्न हुए? उनका पारिवारिक जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ?

प्रसादजी का जन्म सं० १६४६ मे काशी मे कान्यकुब्ज वैश्य वंश मे हुआ था। आपके पूर्वज 'सुँघनीसाहु' कहलाते थे। आपके पितामह को काव्य के प्रति अनुराग था; दानी इतने थे कि लोग उनका 'जय महादेव' कहकर अभिवादन करते थे। कहते है कि काशी में अभिवादन का यह सम्मान या तो काशी-नरेश को प्राप्त रहा है या सुँघनीसाहु के व्यक्ति को। आपके यहाँ कवि मण्डली जमती—समस्या-पूर्तियों और कविता-पाठ की धूम मची रहती। 'प्रसाद' के मन पर इस वातावरण का प्रभाव पड़ा। आप लुक-छिप कर 'कुछ' लिखा करते थे। बारह वर्ष की आयु में ही आप पितृ-विहीन हो गये। स्कूली शिक्षा सातवें दर्जे से आगे नही बढ पाई। घर पर ही आपको संस्कृत, अंग्रेजी पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया। संवत् १६५७ में आपने अपनी माँ के साथ ओंकारेश्वर उज्जैन, ब्रज आदि स्थानों की धार्मिक यात्रा की। मध्य प्रदेश में नर्मदा के उद्‌गम स्थान—अमरकंटक—की यात्रा के समय उसकी वनश्री ने आपके हृदय में जो उल्लास, जो प्रेरणा दी वह आपको आजन्म स्मरण रही—विशेषकर पर्वतमाला के बीच नर्मदा के वक्ष:

स्थल पर किया गया नौका-विहार का दृश्य सदा आपकी आँखों के आगे झूलता रहा।

पिताजी की मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही आपकी माता ने सदा के लिये आपसे विदा ले ली, और दो ही वर्ष बाद आपके ज्येष्ठ भ्राता भी आपको परिवार में एकाकी छोड़कर स्वर्गवासी हो गये।

यौवन की देहली पर पैर रखते ही प्रसादजी पर यह पारिवारिक आघात!

तब क्यों आपके 'करुणा कलित हृदय मे असीम वेदना' न गरजती? आपने श्रीमती महादेवी के समान अपनी सजल अनुभूति को मनोवैज्ञानिक आवरण मे यह कह छिपाने का प्रयास नहीं किया कि—"मैने जीवन में कभी वेदना का अनुभव नही किया। इसी से मै वेदना से प्यार करती हूँ।"

आपका हृदय वस्तुतः आघातो से जर्जरित होता रहा। वैवाहिक जीवन में भी आपको दो बार पत्नी-वियोग सहना पड़ा था।

सन् १६१० से आपकी साहित्य-सेवा का श्रीगणेश होता है—आपके भांजे बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। 'प्रसाद' जी उसके प्रमुख लेखक और कवि थे। 'सरस्वती' में उस समय आपकी कोई रचना नही छपी। इसका कारण यह कहा जाता है कि "प्रसाद जी का आचार्य द्विवेदी से कुछ मतभेद था।"

आपने साहित्य के प्रत्येक अग—निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक और कविता की पूर्ति की और उनमें अपने व्यक्तित्व को अंकित किया। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों का आरम्भ आपकी रचनाओं से होता है। बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न प्रसाद हम में अधिक

काल तक न रह सके। हिन्दी के दुर्भाग्य से राजयक्ष्मा से पीड़ित हो आपने १५ नवम्बर, १९३७ को अपनी इहलीला समाप्त की।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने आपके निधन पर लिखा था—

'जय शंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी आवेंगे।
किंतु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे॥
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिंदी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते आते थे, रोते-रोते जावेंगे॥

—विनयमोहन शर्मा

मालव-प्रेम

पात्र-परिचय

जयदेव—मालवगण का सेनापति।

विजया—जयदेव की कुमारी बहिन।

श्रीपाल—विजया का प्रेमी।

स्थान—मालव देश। काल—विक्रमी संवत् के २५ वर्ष पूर्व।

[चम्बल-तट का एक ग्राम। विजया नदी-तट की एक शिला पर बैठी हुई गा रही है। समय रात का प्रारम्भ, विजया की वय १६-१७ वर्ष के लगभग। उज्ज्वल गौर वर्ण, शरीर सुगठित लम्बा, अत्यन्त आकर्षक स्वरूप। आँखों में आकर्षण के साथ तेज। वेश सुरुचिपूर्ण होते हुए भी उसके स्वभाव के अल्हड़पन को व्यक्त करने वाला। सिर से उत्तरीय का पहलू खिसककर भूमि पर गिर गया है। उत्तरीय के अतिरिक्त एक दुपट्टा वक्ष और कंधे के आस-पास लिपटा पड़ा है। लम्बे बाल वायु में लहरा रहे हैं।]

विजया—(गान)

जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर ?
जब नयन मैं मूँदती, वह
छवि दिखा मुझको लुभाता।
जब बढ़ाती हाथ तब
कुछ भी नहीं है हाथ आता।

धूल में मिलते अचानक
स्वप्न होकर चूर।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर ?
जो सजन! बन 'नयन-तारा'
लोचनों में है समाया।
वह गगन का चाँद होकर
दूर से ही मुस्कराया।
इसलिये थमता नहीं है
आँसुओं का पूर।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर।
पालने में श्वास के है
हर घड़ी झूला झुलाया।
क्यों न उसने प्रेम मेरा
आज तक पहचान पाया।
मैं उसी को प्यार करने
क लिए मजबूर।
जो निकट इतना वही है
हाय कितनी दूर ?

[विजया गीत गाने में तल्लीन है। श्रीपाल आकर उसकी नज़र बचाकर उसके पास खड़ा रहता है। श्रीपाल एक बलिष्ठ और सुंदर नवयुवक है। उसका वेश योद्धा का है। कमर में तलवार, हाथ में धनुष, कधे पर पीछे की ओर तरकश। वय लगभग २५ वर्ष।]

श्रीपाल—विजया !

विजया—(गाना बंद करके खड़ी होकर, उत्तरीय का पल्ला सिर पर डालती हुई।) तुम बडे अशिष्ट हो, श्रीपाल।

श्रीपाल—ऐसे कोमल कण्ठ से ऐसे कठोर शब्द शोभा नही देते, विजया !

विजया—तुम अपनी सीमा के बाहर जाते हो ?

श्रीपाल—मैंने तुम्हारा अपमान किया है क्या, विजया ?

विजया—अपमान तो नही किया।

श्रीपाल—फिर ?

विजया—यहाँ एकान्त में मुझे अस्त-व्यस्त भेष मे देर तक चुपचाप खड़े देखते रहना।

श्रीपाल—मै तुम्हे जीवन भर देखना चाहता हूँ, विजया !

विजया—(किंचित् लज्जामिश्रित क्रोध से) किस अधिकार स ?

श्रीपाल—जिस अधिकार से चाँद तुम्हे इस समय देख रहा है।

विजया—दूर रहकर आकाश से ?

श्रीपाल—हाँ, तुम मेरे जीवन की प्रेरणा हो, स्फूर्ति हो। तुम्हारी स्मृति मेरे रक्त को गति देती है। तुम्हें पाने की इच्छा करना मेरे जीवन का जीवन है—लेकिन तुम्हे पा लेना मेरे जीवन की मृत्यु है।

विजया—उधर देखते हो, श्रीपाल ! कही वर्षा हुई है, इसलिये चम्बल मे जल बढ़ गया है। धारा के दोनों ओर चट्टानें है। जल को फैलने को स्थान नही मिल रहा। वह कितना जोर कर रहा है। कितने वेग से आगे बढ रहा है।

श्रीपाल—हमारे बीच में इससे भी बड़ी चट्टाने है, विजया !

जिया—कौनसी चट्टान ?

श्रीपाल—तुम्हारा भाई जयदेव ! उसे अपने कुल का अभिमान है। मैं एक साधारण किसान का पुत्र हूँ और तुम भारत की सुप्रसिद्ध मालव जाति की कन्या हो। आकाश की तारिका की ओर पृथ्वी पर पैर रखकर चलने वाला प्राणी कैसे हाथ बढ़ा सकता है ?

जिया—यदि यह तारिका आकाश से उतर कर तुम्हारी गोद मे आ गिरे तो ?

श्रीपाल—मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा।

विजया—क्यों ?

श्रीपाल—मैं कृपा या दान नही चाहता।

विजया—तो चोरी करना चाहते हो, डाका डालना चाहते हो। डाका डालना कायरता नही है ?

श्रीपाल—मैं इतना छोटा नही बनना चाहता कि मुझे अपनी ही चीज़ की चोरी करनी पडे।

विजया—तब तुम क्या चाहते हो ?

श्रीपाल—बदला।

विजया—किससे ?

श्रीपाल—तुम्हारे भाई से।

विजया—अच्छा तो इसलिये तुमने शस्त्र पकड़े है ?

श्रीपाल—जो हल पकड़ना जानता है वह शस्त्र पकड़ना भी जान सकता है।

विजया—लेकिन उसका उचित प्रयोग करना भी जान पाए तब न ?

श्रीपाल—मानवता का तिरस्कार करने वालों—सृष्टि के चिरंतन भाव—प्रेम का अपमान करने वालों के विरुद्ध मेरा

शस्त्र होगा। जाता हूँ विजया ! तुम मेरे जीवन की स्फूर्ति हो—मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

[प्रणाम करता है।]

विजया—तुम जा रहे हो, श्रीपाल ! लेकिन मुझे भय है तुम मार्ग भूल जाओगे।

श्रीपाल—तुम्हारा प्रेम मेरा मार्ग-दर्शक है।

[श्रीपाल का प्रस्थान]

विजया—(श्रीपाल की ओर देखती हुई) विक्षिप्त युवक !

[विजया कुछ क्षण स्तब्ध-सी खड़ी उसी ओर देखती रहती है जिस ओर श्रीपाल गया है। फिर एक लम्बी सांस लेकर शिला पर बैठ जाती है। कुछ क्षण विचारमग्न रहकर वही गीत गाने लगती है। गीत आधा ही हो पाता है कि उसका भाई जयदेव प्रवेश करता है। जयदेव भी गौरवर्ण, बलिष्ठ शरीर, बड़ी आँखों और रोबदार चेहरे वाला नवयुवक है। सैनिक वेष-भूषा। कपड़ों से उसका सुसम्पन्न होना प्रकट होता है।]

जयदेव—(विजया के कंधे पर हाथ रखकर) विजया !

विजया—(चौंककर) ओह, भैया।

जयदेव—चौंक क्यो उठी, बहन !

विजया—मैं डर गई थी !

जयदेव—मालव-कन्या होकर डर का नाम लेती है, विजया !

विजया—मैं शस्त्र की धार से नही डरती, सिंह के तीक्ष्ण नखों से नही डरती। मै मनुष्य के शारीरिक बल से नही डरती। हिंसा से मैं लड़ सकती हूँ।

जयदेव—फिर डरती किससे हो, लड़ किससे नही सकती !

विजया—मनुष्य के प्रेम से। (दीन स्वर में) भैया !

जयदेव—(विजया के मस्तक पर हाथ रखते हुए) क्या बात है विजया ?

विजया—मै अपने हृदय पर विजय नही पा सकती हूँ। प्राणों मे आठों पहर ज्वाला जलती है । तुम्हारी वंश-गौरव की दीवार मुझे रोक नही सकती। मैं विद्रोह करूँगी।

जयदेव—किससे ।

विजया—तुम्हारे अभिमान से । मेरे भाई मालव-कुल-भूषण जयदेव से !

जयदेव—तुम मुझ से युद्ध करोगी ?

विजया—हाँ ।

जयदेव—जीत सकोगी ?

विजया—अवश्य !

जयदेव—कैसे ?

विजया—अपनी बलि देकर । इस शरीर को—जिसमे ऐसा मालव-रक्त प्रवाहित है, जो मुझे प्रेम के स्वाधीन प्रदेश में जाने से रोकता है—चम्बल के उद्दाम प्रवाह में प्रवाहित करके।

जयदेव—बहन, तुझे हो क्या गया है ?

विजया—तुम तो सब जानते हो, भैया !

जयदेव—यहाँ श्रीपाल आया था ?

विजया—हाँ।

जयदेव—तभी तुम इतनी चचल हो उठी हो ! विजया, तुम्हे एक काम करना पडेगा।

विजया—क्या ?

जयदेव—मालव-भूमि को श्रीपाल का मस्तक चाहिए।

विजया—मालव-भूमि को या तुम्हें ?

जयदेव—मुझे नहीं, मालव-भूमि को !

विजया—लेकिन उसे तो तुमसे शत्रुता है मालव-भूमि से नहीं।

जयदेव—वह मेरे अपराध का दण्ड मालव-भूमि को देना चाहता है।

विजया—मालव-भूमि को या मालव-गण को ?

जयदेव—जब विदेशी शासन हमारे देश पर होगा तब क्या कोई जाति पराधीनता से बच सकेगी ?

विजया—विदेशी शासन मालव पर !

जयदेव—हाँ, जिन शकों ने सिन्ध और सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया है उन्हें श्रीपाल ने मालवा पर आक्रमण करने को आमन्त्रित किया है।

विजया—तुम लोगो का अभिमान अपने ही देश में देश के शत्रु उत्पन्न कर रहा है। तुमने श्रीपाल का अपमान किया है। और निराशा उसे शत्रु के पास खीच ले गई है।

जयदेव—जिस जाति ने सदा भारत के अंगरक्षक बनकर आततायियो को देश में आने से रोका है, जिसने सिकन्दर महान् की विश्व-विजयिनी यूनानी सेना को हजारो प्राणों की बाजी लगाकर वापिस लौट जाने को बाध्य किया उसे क्यों न अपने ऊपर गर्व हो ? उसे अपनी सैनिक-शक्ति एव बल-विक्रम पर अभिमान क्यों न हो ?

विजया—किन्तु जो जाति सैनिक नहीं है, क्या वह मनुष्य ही नही है ? कार्य-विभाजन नीच-ऊँच की दीवारे क्यों खड़ी करे ?

जयदेव—यह इन बातों पर विचार करने का समय नहीं है।

विजया—एक श्रीपाल का मस्तक लेकर देश की रक्षा नही कर सकोगे ?

जयदेव—तू श्रीपाल और देश दो में से किसे चुनेगी ?

विजया—तुम देश और मानवता दोनों में से किसे चुनोगे ?

जयदेव—पराधीनता मानवता का सबसे बड़ा पतन है !

विजया—और प्रेम ?

जयदेव—जो प्रेम देश की हत्या करे उसका गला घोंटना ही होगा । श्रीपाल मालवा के मार्गो, नदी-पर्वतो से परिचित है। शक-सैन्य सख्या मे हमसे अधिक है । उनके पास अपार अश्वारोही दल है, अस्त्र-शस्त्र भी अपरिमित है । यदि उन्हे इस देश की भूमि से परिचित व्यक्ति मिल जाय तो परिणाम हमारे लिये भयकर है । सोचो विजया, उस समय हमारे देश का क्या होगा ?

विजया—तुम मेरी हत्या कर दो भैया !

जयदेव—तो तुम देश के महत्त्व को नही समझी । तुम्हारे पिता, तुम्हारे दादा और तुम्हारी न जाने कितनी पीढ़ियो ने इस भूमि की रक्षा में अपना रक्त सीचा है, बहन ! कितनी बहनों ने अपने भाइयो को रणभूमि में विसर्जित किया है—कितनी सुन्दरियों ने यौवन के प्रभात काल मे पतियो को स्वग का मार्ग दिखाया है—यह एक विजया या एक श्रीपाल का प्रश्न नही है, यह देश का प्रश्न है । बोल बहन, तू क्या चाहती है ?

[विजया चुप रहती है]

जयदेव—तू सोचना चाहती है, तो सोच ! तू मालव-कन्या है विजया ! मैं अभी आता हूँ ।

[जयदेव का प्रस्थान । विजया हतबुद्धि-सी खड़ी रहती है। फिर वही गीत गुनगुनाने लगती है । श्रीपाल प्रवेश करता है ।]

श्रीपाल—विजया !

विजया—अच्छा हुआ तुम आगए, नही तो मुझे तुम्हारे पास जाना पड़ता !

श्रीपाल—हाँ, मै आ गया हूँ। मैने अपना निश्चय बदल दिया है। मैं तुम्हे अपने साथ ले जाना चाहता हूँ।

विजया—लेकिन श्रीपाल, मैने अपना निश्चय बदल डाला है।

श्रीपाल—क्या ?

विजया—मुझे तुम्हारा मोह छोड़ना होगा।

श्रीपाल—फिर तुम मेरे पास क्यो आना चाहती थी ?

विजया—हम बचपन मे एक साथ खेले है। अब जीवन का अन्तिम खेल भी तुम्हारे साथ खेल लेना चाहती हूँ। बोलो खेलोगे श्रीपाल !

श्रीपाल—अवश्य, विजया !

विजया—तो लाओ, तुम्हारे बलिष्ठ हाथों को मै अपने उत्तरीय से बांध दूँ।

श्रीपाल—क्यो ?

विजया—आँख-मिचौनी मे आँखे बन्द करते है, लेकिन यह नए प्रकार का खेल है। इसमें हाथ बाँधने पडते है। लाओ, हाथ बढ़ाओ।

[श्रीपाल हाथ बढ़ाता है, विजया उसके हाथ खूब कसकर बांध देती है। दूसरी ओर से जयदेव का प्रवेश।]

श्रीपाल—(**जयदेव को देखे बिना ही**) अब आगे ?

विजया—आगे का खेल मेरे भैया खेलेंगे। (**जयदेव की ओर उंगली उठाती है।**)

श्रीपाल—विजया, तुम ऐसा छल कर सकती हो इसकी मुझे कल्पना भी नही थी !

विजया—मुझे इस बात का अभिमान है कि अपने प्रियतम को मैंने देश-द्रोह से बचा लिया।

जयदेव—(**श्रीपाल से**) तुम मेरे अपराध का दण्ड अपनी मातृभूमि को देना चाहते हो ?

विजया—और देश ने तुम्हारे अपराध का दण्ड मुझे देने का निश्चय किया है।

श्रीपाल—जयदेव, तुम वीर हो ! साहस और पुरुषार्थ के लिए प्रसिद्ध मालव-जाति के गौरव हो, तुम छल द्वारा मुझे बन्धन मे बाँधना पसन्द करते हो ?

जयदेव—इस समय देश के सन्मुख जीवन-मरण का प्रश्न है श्रीपाल ! उदारता के लिए अवकाश नही है।

विजया—(**श्रीपाल से**) प्रियतम, मैं अपने अपराध के लिये क्षमा चाहती हूँ। (**गले से हार उतारकर पहनाती हुई**) यह मेरे प्रेम का अन्तिम प्रमाण है। आज हमारा स्वयवर है । आज मालव-जाति की परम्परा के विरुद्ध कृषक-कुमार श्रीगोपाल को मै वरमाला पहनाती हूँ। मै तुम्हारी हूँ और तुम्हारी ही रहूँगी।

श्रीपाल—मेरे हाथ बँधे हुए है, विजया ! मै तुम्हें कुछ प्रति-दान नहीं दे सकता। अपने प्रेम का कोई प्रमाण नही दे सकता।

विजया—प्रेम प्रतिदान नही चाहता। तुम्हारे चरणो की रज मुझे मिल सकती है ? मेरे लिये अमूल्य निधि है।

[चरण छूती है]

—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव-पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दु.खी जनता, गाँव के अपढ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्न-वर्ग के वे असख्य श्रम-श्रात वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गो के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, जमीदार और हुक्काम, उधर मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पन्थी पडित, पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नही थे। इसका अर्थ यह नही कि उनको सत्-असत् की चेतना नही थी। नही, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रान्त थी और इस विषय मे उनका दृष्टि-कोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नही थी। उनके मन मे मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परन्तु पाप को छोड़ उन्होने कभी पापी से घृणा नही की। इसके लिये गाँधी और गाँधी से भी अधिक स्वय गांधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानववादी लेखको का प्रभाव काफी हद तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलत. तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही सन्त था—उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभावजात था, युग-प्रथा मात्र नही था। इसका उनके सस्कारो के साथ पूर्ण सामञ्जस्य था। इसीलिए इस धरातल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदो से मुक्त हो

जातो थी । प्रगतिवादियों ने अपने मानव-मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्गचेतना का आरोप कर दिया है । परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे । उन्होने पूँजीपतियो और जमीदारो के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नही थे । सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूँजीवादी भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दु:ख-दर्द का शिकार है जिस तरह मजदूर । राजनीतिक दलबन्दी में आकर अपने मन में इस तरह खाने बना लेना कि उसके दु:ख-दर्द का वहाँ प्रवेश ही न हो, सर्वथा अप्राकृतिक एव अमानवीय है, और जिनके हृदय में इस तरह का विभाजन सम्भव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र क्योकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नही है कि एक ही विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरें को न करे । जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अकुश रहता है व सहानुभूति का दम्भ करते है । कहने की आवश्यकता नही कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नही थी । पापी को उन्होने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होने कही भी उपेक्षा नहीं की । उनके उपन्यासों मे दंड का निषेध नही है—उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्मघात तक का दण्ड है । परन्तु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था में नही है । प्रेमचन्द कही भी कठोर नही होते और कही भी दम्भ नही करते । यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी ।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । गान्धी-युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सागोपांग और सटीक

चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्य-कार मे मिलता ही नही है ; भारत के अन्य किसी साहित्यकार मे मिलता है, इसमें सदेह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएँ होती है—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है कुछ मे नही; परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपो के प्रति उनमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हे जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते है उतने औरों में नही।

जीवन के इस समग्र-ग्रहण का परिणाम यह हुआ है कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गाँधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यन्त पूर्ण इति-हास दे दिया है। वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खण्ड का सामाजिक इतिहास लिखा जायगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकर राजनीति से आतकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हे भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियो से कम महत्त्व नही देगा। इसके मूलतः दो कारण है—एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यन्त सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यन्त स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहाँ 'नार्मल' के अर्थ

मे कर रहा हूँ । उनका दृष्टिकोण मनोग्रन्थियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था, उसमें प्रवृत्तियो का स्वस्थ सतुलन और अतिचार एव अवचार का अभाव था । मनोग्रन्थि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित रीति से जीवन-यापन करने मे बाधक होती है । ये मनोग्रन्थियाँ प्राय: दो प्रकार की होती है—अर्थ-मूलक और काम-मूलक । प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है । गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे आर्थिक विषमताओ के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होने अपने ढग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है । परन्तु उन्होने अर्थवैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रन्थि नही बनने दिया । वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है । उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, मानसिक कुण्ठाओ के शिकार बनकर नही रह जाते । इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है, वे अनुपात-ज्ञान कभी नही खोते ; समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणों को दूर करने से होगा, उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नही । यह सुस्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नही छोड़ता ; और इसी कारण प्रेमचन्द में किसी रूप में अतिवाद नहीं मिलता । गान्धी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होने कही भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेकहीन उत्साह नही दिखाया है । गान्धी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है, और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धान्तों द्वारा । उधर किसानों और मजदूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है ; वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिन्दी में दूसरा नहीं है । परन्तु जमींदारों और पूँजीपतियों के प्रति भी यह कलाकार

अपना सतुलन नही खो बैठा । उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नही भुला बैठा । किसानों और मजदूर में अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होने अपने सभी उपन्यासो में किया है, परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है, अभावात्मक रूप को नही । कही भी उन्होने जमीदारों और किसानो के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय्य नही समझा । दूसरे शब्दों में, वर्ग-सघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होने कही भी स्वतन्त्र महत्त्व नही दिया । संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है । असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए सघर्ष करना जीवन का ध्येय है परन्तु वर्ग सघर्ष को—मानव के प्रति मानव के सघर्ष को एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रगो मे चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रग मे रंगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है । उनके विवेक ने एकागिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है ।

—नगेन्द्र

तिरुवललुवर

तमिल भाषा के दो श्रेष्ठ ग्रन्थ 'तिरुवललुवर' का 'तिरक्कुरल' तथा 'कम्बन' का 'रामायण' है। राम की कथा को लेकर रामायण की रचना भारत की सभी साहित्यिक भाषाओं मे हुई है। परन्तु 'कुरल' या ('तिरुक्कुरल') तमिल भाषा की अपनी ही विशेषता है। जिस प्रकार 'रामायण' को 'श्री रामायण' और 'भगवद्‌गीता' को 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' श्रद्धापूर्वक कहा जाता है, उसी-प्रकार दक्षिण भारत में 'कुरल' को 'तिरुक्कुरल' (=श्री कुरल) कहने की प्रथा है।

'तिरुक्कुरल' में १३३ अध्याय है, और प्रत्येक अध्याय मे १० छन्द है। इस प्रकार सम्पूर्ण कृति में (आधे दोहे के समान) छोटे-छोटे केवल १,३३० छन्द हे। वास्तव मे 'कुरल' उस छन्द का नाम है। फिर भी वललुवर के 'कुरल' इतने प्रसिद्ध है कि यह जातिवाचक शब्द व्यवहार मे व्यक्तिवाचक बन गया। 'कुरल' छन्द दो चरणों का होता है; प्रथम चरण मे चार और द्वितीय मे तीन पद रहते है। यह अज्ञात है कि कवि ने अपनी रचना को क्या नाम दिया, और कब से यह कृति छन्द के नाम पर ही प्रसिद्ध हो गई।

यद्यपि कवि और उसकी कृति का वास्तविक नाम अज्ञात है, फिर भी इस रचना मे एक भी पाठ-भेद या क्षेपक नही मिलता। 'तिरुक्कुरल' के ३ खण्ड है, जिनमे जीवन के ४ पुरुषार्थो मे से ३ का वर्णन है। प्रथम खण्ड मे 'अरम' (=धर्म), द्वितीय मे 'पोरुल' (=अर्थ), और तृतीय मे 'इन्बम' (=काम) सम्बन्धी कुरल है।

अन्य धार्मिक ग्रथो के समान 'कुरल' के काल पर भी विद्वान् एकमत नही है। तमिल भाषा आधुनिक भारतीय भाषाओ में सबसे

पुरानी है। इससे यह निश्चय है कि वललुवर कबीर आदि से कम-से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुए थे। परन्तु उनका ठीक सवत् नही मिलता। यूरोपीय विद्वान् जी० यू० पोप ने इस रचना मे कतिपय ईसाई सिद्धान्तो की समानता देखी और इसका रचना-काल आठ सौ से दस सौ ईस्वी सन् के बीच मान लिया। आजकल इस अनुमान को कोई मान्य नही समझता। के० एन० शिवराज पिल्लै के अनुसार ईसा की प्रथम शताब्दी, वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितर के अनुसार ईसा से पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी, और टी० एस० कन्दसामी मुदलियर के अनुसार ईसा से पूर्व तृतीय शताब्दी इसका रचना-काल है। सामान्यतः तिरुवललुवर का समय बुद्ध और ईसा के बीच मे ही मानना चाहिए।

वललुवर या तिरुवललुवर (=श्री वललुवर) कुरल के रचयिता थे। उनके जीवन की साधना और पवित्रता इस ग्रन्थ मे अमृत बनकर बह रही है। वललुवर का जीवन जनश्रुतियो और किंवदन्तियों से भरा हुआ है; इसलिए उस समुद्र से यथार्थ मुक्ताओं का ग्रहण कठिन काम है। इनका नाम क्या था, यह कोई नही जानता। 'वललुवा' उस पतित जाति का नाम है, जिसको अपने जन्म से इन्होने पावन बना दिया। सम्भव है प्रारम्भ में अवहेलना के लिए समकालीन लोग इनके जातिनाम से इनको पुकारते होगे, पीछे उसी नाम का आदर हुआ और उसके साथ 'तिरु' भी जोड़ दिया गया।

साधारणतः लोग वललुवर का जन्म मद्रास शहर में मानते हैं। मद्रास के निकट मयिलापुर (मयिल=मोर, पुर=नगर) में इन्होंने अपना जीवन बिताया। इनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में भी कुछ कहा नही जा सकता। इनकी पत्नी का नाम 'वासुकी' था, परन्तु उनके जाति-कुटुम्ब का कोई लेख नही मिलता। वललुवर कपड़ा बुनकर जाति-प्रथा के अनुसार अपना जीवन-निर्वाह करते थे। इनका गृहस्थ जीवन सुखी, सन्तोषप्रद तथा धार्मिक था। वासुकी आदर्श पतिव्रता थी। कहा जाता है कि 'कुरल' में पातिव्रत

की जो प्रशंसा की गई है उसकी प्रेरणा कवि की पत्नी ही है। पाति-व्रत को सिद्ध करने वाली वासुकी के जीवन की अनेक दन्तकथाएँ प्रसिद्ध हैं। वासुकी का अन्तिम क्षण बड़ा मार्मिक है। कवि वललुवर के कोमल हृदय का सात्विक रुदन जिस करुण पद के रूप में प्रकट हो गया, उसकी अन्तिम पक्तियों का भावार्थ है—"सरले ! क्या तू आज मुझे छोड़कर जा रही है ? हाय ! अब इन आँखों में नीद कब आवेगी ?"

सन्त वललुवर की कृति 'तिरुक्कुरल' इतनी महान् है कि कोई भी सहृदय पाठक इसकी प्रशसा किये बिना नही रहा। ससार के धर्मों में जो कुछ सार और ग्राह्य है वह 'कुरल' में वर्णित है, फिर भी यह किसी धर्म-विशेष की पुस्तक नही है। तमिल जाति स्वभावतः सरल, धार्मिक तथा आचारनिष्ठ है। उसने विश्व को इतनी सक्षिप्त किन्तु अमूल्य आचार-रत्नावली दे दी, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। 'तिरुक्कुरल' को भव्यता और उदारता से प्रभावित होकर ही इसको 'तमिलवेद' 'पचमवेद', 'सार्वभौमिक वेद', तथा 'दैवी ग्रन्थ' आदि सार्थक नामों से पुकारा जाता है। 'कुरल' पर अनेक टीकाएँ है जिनमें सबसे अधिक प्रामाणिक काची के प्रसिद्ध आचार्य परिमेलहर (१४वी शती) की है।

वललुवर और तिरुक्कुरल के अध्ययन से उत्तरी भारत के पाठक का ध्यान स्वभावतः दो कवियो पर जाता है—हिन्दी मे कबीर और सस्कृत में भर्तृहरि ! तिरुवललुवर और सन्त कबीर दोनों के जन्म, जाति तथा व्यवसाय समान है। दोनो के उपदेश व्यापक तथा उदार है। वललुवर का 'कुरल', और कबीर की 'साखी' आकार, काव्य-गुण तथा लोकप्रियता में तुल्य है। फिर भी अपनी-अपनी भाषाओं में दोनों कवियों का समान स्थान नहीं मिलता क्योंकि दोनो की गहराई समान नही है। वललुवर के उपदेशो में एक व्यवस्था है; और जीवन का यथार्थ रूप समक्ष है। कबीर सामयिक परि-स्थितियों के कारण अर्थ-काम से विरक्त रहकर धर्म-मोक्ष का भक्ति-

मूलक उपदेश देते हैं। वललुवर में प्रतिपादन है, कबीर में खण्डन अधिक है मण्डन कम। 'कुरल' राष्ट्रीय सस्कारों का प्रतिनिधि काव्य है, उसे देश-काल की सीमाओं मे नही बाँधा जा सकता, वह युग-युग का ग्रन्थ है—वेद है।

भर्तृहरि ने 'वैराग्यशतक', 'नीतिशतक' तथा 'शृंगारशतक' लिखकर धर्म, अर्थ और काम के योग-क्षेम का वर्णन किया है। व्यक्तिगत जीवन में उनकी तुलना प्रसिद्ध आलवार सन्त कुलशेखर से की जा सकती है। भर्तृहरि कवि अधिक है सन्त कम, इसलिए उनके शतकों को धर्म ग्रन्थ कहने की आवश्यकता भी नही समझी गई। उनके शतकों मे कोई योजना नही मिलती। वल्लुवर और भर्तृहरि का यत्किचित् साम्य सयोगजन्य ही समझना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि कुरल के तीन खण्ड है—अरम (धर्म); पोरुल (अर्थ) तथा इन्बम (काम)। धर्मखण्ड मे ३८, अर्थखण्ड मे ७०, और कामखण्ड मे २५ अध्याय है। वीडु (मोक्ष) का वर्णन कुरल में नही किया गया। इसका कारण प्राचीन परम्परा है, जिसके अनुसार जीवन मोक्ष से अधिक काम्य है, और पूर्ण जीवन का, मोक्ष स्वत.सिद्ध अन्त है। कालिदास आदि प्रवृत्तिवादी पुनरुत्थापको ने तीन पुरुषार्थों का ही वर्णन किया है—'धर्म' की व्याख्या 'अर्थ' 'काम' के सन्तुलन रूप मे की है।

धर्मखण्ड का प्रारम्भ ब्रह्म की स्तुति से होता है। ब्रह्म निराकार, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है, उसकी भक्ति की जा सकती है। इस खण्ड के दूसरे अध्याय में वर्षा की स्तुति है। तीसरे में महापुरुष, चतुर्थ में धर्म और फिर पारिवारिक जीवन की चर्चा है। वललुवर के अनुसार पानी के बिना ससार में कोई काम नही चलता, इसलिए धर्म भी अन्ततोगत्वा वर्षा पर ही आश्रित है। धर्म के विषय में वललुवर बड़े उदार है। 'धर्म का समस्त सार एक ही उपदेश में समाया हुआ है कि अपना मन पवित्र रखो, शेष सब कुछ वाग्जाल

मात्र है।' धर्म में गृहस्थ धर्म का बड़ा महत्त्व है। 'जो गृहस्थ दूसरों को व्रतपालन में सहायता देता है और स्वयं पवित्र जीवन व्यतीत करता है वह व्रत तथा उपासना करने वाले अनेक संन्यासियों से बढ कर तपस्वी है।' धर्मखण्ड में हमारा ध्यान दो बातों पर अवश्य जाता है। प्रथम तो यह कि धर्म का अर्थ व्यापक रखने से गृहस्थ जीवन पर बहुत जोर है और धर्म सदाचार का ही पर्याय बन गया है। द्वितीय यह है कि कुरल का आदर्श नितान्त भारतीय है—'सहल और कर्मण्य जीवन आदर्श का परिपक्व प्रतिबिम्ब। ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म के अनन्तर वर्षा (इन्द्र) की स्तुति, तथा प्रवृत्ति-मूलकता के साथ-साथ आतिथ्य, कृतज्ञता, संयम, त्याग, तप आदि श्रेष्ठ गुणों की सर्वत्र प्रशंसा इस ग्रन्थ में है। धर्मखण्ड के दो उपदेश देखिए—

(१) **तीयिनाल सुट्टपुण उल्लारुम आरादे**
नाविनाल सुट् वडुह ।।१।१३।६।।

—अग्नि से जला हुआ घाव समय पाकर भर जाता है, परन्तु वाणी का घाव सदा पीड़ा देता रहता है।

(२) **अव्वित्तु अ षुक्कारु उडैयानै चेय्यवल**
तव्वैयै काट्टि विडुम ।।१।१७।७।।

—लक्ष्मी ईर्ष्या करने वाले के पास नहीं रहती, वह उस व्यक्ति को अपनी बड़ी बहन दरिद्रता के हवाले करके चली जाती है।

अर्थ से वललुवर का अभिप्राय अर्थ-नीति, या समाज-नीति है, जिस अर्थ में कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। यह खण्ड इस ग्रंथ का आधे से अधिक भाग है। राजा, मन्त्री, गुप्तचर आदि के साथ-साथ सगति, व्यक्तियों की परख, अवसर, व्यवहार आदि राज-नीति, समाज-नीति और व्यवहार-नीति तीनों पर इस खण्ड में विस्तृत

विचार है। कवि ने पूर्णतः स्वस्थ जीवन पर जोर दिया है, जीवन में समन्वय हो और हो आत्म-विश्वास—कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक। दो उपदेश देखिए—

(१) **मनत्ताना मान्दर कुर्णाच इनत्ताना**
मिन्ना नेनप्पडञ्ञ चोल ॥२।४६।३॥

—व्यक्ति के विवेक का सम्बन्ध उसकी बुद्धि से है, परन्तु समाज में उसकी प्रतिष्ठा उसकी संगति पर निर्भर है।

(२) **आक मर्दाविनाश्चत् चेल्लु मसैविला**
वूक्क मुडैया नुलै ॥२।६०।४॥

—जिस व्यक्ति में सकल्प की दृढ़ता है उसके पास भाग्य स्वयं मित्र बनकर रहने लगता है।

'काम' का भी वललुवर में व्यापक अर्थ है। संसार में जो कुछ काम्य है, उसकी प्रेरणा को काम कहते है। निश्चय ही उसमें स्त्री का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पतिव्रता स्त्री सौभाग्य का फल है। पत्नी पति को ऊपर उठाने वाली हो, गिराने वाली नहीं। उच्च कुल और सतीत्व की इस खण्ड में भूरि-भूरि प्रशसा है। मीठी वाणी, सद्व्यवहार, लज्जाशीलता और पवित्र जीवन का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। एकपत्नीव्रत पर भी वललुवर ने पतिव्रत के समान ही जोर दिया है। कामखण्ड में संयोग और वियोग, पत्नी और उसकी सखी, तथा मौसम और काल वर्णन के विषय बने है। स्वप्न में भी पति के ध्यान में मग्न रहने वाली विरहिणी तथा वियोग में क्षीण होने पर भी सात्विक आभा से परिपूर्ण उसके अंगों की कान्ति इस खण्ड में वर्णित है। वललुवर ने स्त्री-पुरुष के दिव्य प्रेम का वर्णन करके उसे आदर्श मार्ग दिखलाया है।

तिरुवल्लुवर का तिरुक्कुरल तमिल भाषा का अमूल्य रत्न ही नहीं, भारतीय साहित्य का भी भव्य-भूषण है। इसमें जीवन के जिस समन्वय पर जोर दिया गया है उसका व्यावहारिक महत्त्व आज के सन्दिग्ध युग में और भी अधिक बढ गया है। सासारिक जीवन को पवित्र बनाकर हम देवत्व प्राप्त कर सकते है, बुराइयो के भय से भाग खड़ा होना नही उनको धोकर जीवन को स्वच्छ बनाना ही भारतीय आदर्श है, जो तमिल भाषा के इस प्राचीन काव्य मे आद्यन्त व्याप्त है।

—डॉ० ओमप्रकाश

परिशिष्ट

सत्य और अहिंसा

महात्मा गाँधी

राष्ट्रपिता महात्मा गाधी का जन्म सन् १८६९ ई० मे गुजरात मे हुआ। इगलैण्ड से बार-एट-लॉ परीक्षा पास करके आपने कुछ दिनो बैरिस्टरी की। फिर अफ्रीका मे आन्दोलन को जन्म देकर आप देश की राजनीति का नेतृत्व करने लगे। स्वतन्त्रता के अनन्तर प्रार्थना-सभा मे एक बौखलाये हुए हिन्दू युवक ने आप पर गोली चला दी। दिल्ली के राजघाट नामक स्थान पर आपकी समाधि देश-विदेश के शान्तिप्रिय लोगो को सत्य और अहिंसा का सन्देश दे रही है।

गाधीजी का समस्त साहित्य हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी मे उपलब्ध है। अनेक भाषाओ मे आपका अधिकांश साहित्य अनूदित है। प्रार्थना के बाद गांधी जी कुछ उपदेश दिया करते थे। वे प्रवचन मूलतः हिन्दी मे है। यहाँ प्रार्थना-सभा मे दिये गये 'सत्य' और 'अहिंसा' पर उनके दो प्रवचन संग्रहीत हैं।

अभ्यास और वैराग्य (पृ० २)—गीता, अध्याय ६, श्लोक ३५।

लौ लगाये रखना (पृ० २)—एकनिष्ठ भाव से दत्त-चित्त होना।

सिर हथेली पर लेकर चलना (पृ० ३)—आत्म-बलिदान करते हुए एक-एक कदम आगे बढना।

खाँडे की धार पर चलना (पृ० ३)—तलवार की तेज धार पर चलकर आत्म-बलिदान करना।

दर-का-दर पर (पृ० ४)—जहाँ था वही।

कुमार अजातशत्रु

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

श्री जयशकर 'प्रसाद' का जन्म सन् १८८९ ई० मे काशी के एक प्रतिष्ठित शैव परिवार मे हुआ था। आपने सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी, बगला और उर्दू की शिक्षा प्राप्त की। पारिवारिक आपत्तियो के कारण आपको १७ वर्ष की अवस्था मे ही गृहस्थ तथा व्यापार का भार सम्हालना पडा। आपका जीवन सामाजिक कठिनाइयो तथा वैयक्तिक दृढता का विचित्र समन्वय है। शिव के समान विष-पान करके भी समाज के लिए आशुतोष सिद्ध हुए। सन् १९३६ मे राजयक्ष्मा रोग से प्रसादजी का स्वर्गवास हुआ।

प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी थी। आप प्रधानतः कवि है, परन्तु नाटक, उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध के क्षेत्र मे भी आपका अलग स्थान है। आपके व्यक्तित्व मे राष्ट्रीयता, दार्शनिकता, भावुकता और कला-प्रेम का अपूर्व सामञ्जस्य है। हिन्दी-काव्य मे आपका प्रभाव 'प्रसाद युग' नाम से स्वीकार किया जाता है। 'छायावाद' नामक प्रवृत्ति के आप सूत्रधार माने जाते है। आपकी अमर कृति 'कामायनी' महाकाव्य 'रामचरित-मानस' के समकक्ष है। इसका अनेक भाषाओ मे अनुवाद हो चुका है। प्रसाद तमिल के सुब्रह्मण्यम् भारती और बगला के रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे प्रतिष्ठा के भागी है।

प्रसाद की मुख्य रचनाए निम्नलिखित है—

(क) **काव्य**—झरना, आँसू, लहर, कामायनी आदि।

(ख) **नाटक**—राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि।

(ग) **उपन्यास**—ककाल, तितली, इरावती।

(घ) **कहानी-संग्रह**—आकाशदीप, आँधी, इन्द्रजाल आदि।

'अजातशत्रु' प्रसाद का ऐतिहासिक नाटक है जिसका काल गौतम का युग है, स्वय गौतम इसमे एक पात्र बनकर आते है। प्रस्तुत प्रकरण प्रथम अक का प्रथम दृश्य है। सघर्ष का बीज अजातशत्रु की कुशिक्षा है, जो उसकी

माता की छाया मे बढती ही जाती है। अन्त मे करुणा की दृष्टि से सब सुखी हो जाते है।

चमड़ी उधेड़ता हूँ (पृ० ७)—कोड़े से पीटकर शरीर को क्षत-विक्षत करता हूँ।

कुणीक (पृ० ७)—अजातशत्रु का दूसरा नाम।

छलना (पृ० ८)—अजात की माता, पद्मावती की विमाता।

चाटुकार (पृ० ८)—खुशामदी।

कौशाम्बी (पृ० ९)—पद्मावती का श्वसुर-गृह।

वासवी (पृ० ९)—अजात की विमाता, पद्मावती की माता।

क्या चाहती हो (पृ० १०)—करना चाहती हो।

आत्मा को दबावें (पृ० १०)—मन को मारे।

स्वगत (पृ० १०)—अपने-आप, अपने मन मे।

नम्रता

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

आप देश के वरिष्ठ राजनीतिज्ञ, गम्भीर विचारक और सिद्धहस्त लेखक थे। राजनीति के अतिरिक्त दर्शन और नीति मे आपकी विशेष रुचि थी। तमिल और अंग्रेजी मे आपकी कई विचारपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। उपनिषद् और वेदान्त पर लिखी हुई पुस्तिकाओ का हिन्दी मे रूपान्तर आपकी सुपुत्री श्रीमती लक्ष्मी गाँधी ने किया है।

प्रस्तुत उपदेश आपकी प्रसिद्ध कृति रामकृष्ण उपनिषद् से लिया गया है। लेखक ने सरल तथा सुबोध भाषा मे अहंकार का दमन करके नम्र बनने की सलाह दी है।

अन्तःकरण (पृ० १२)—अपना काम निकालने के लिए, दूसरो को धोखा देने के लिए या अपनी प्रशंसा के लिए भी आदमी नम्रता का दिखावा कर सकता है। परन्तु नम्रता स्वभाव मे होनी चाहिए, व्यवहार मात्र में नही।

बड़े भाई साहब

श्री प्रेमचन्द

श्री प्रेमचन्द का जन्म सन् १८८० ई० मे बनारस जिले के लमही नामक ग्राम मे हुआ था। आपका असली नाम धनपतराय था, और प्रारम्भ में आप 'नबाबराय' नाम से लिखते थे। अध्यापक बनकर आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। घरेलू परिस्थिति अच्छी न होने के कारण आपका समस्त जीवन गरीबी मे बीता। राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर आपने सरकारी नौकरी छोड़ दी और साहित्य के माध्यम से समाज-सेवा करने लगे। सन् १९३६ मे आपका स्वर्गवास हो गया।

प्रेमचन्द 'उपन्यास-सम्राट्' कहलाते है। आपने हिन्दी-उपन्यास को कल्पना और मनोरजन की दुनिया से निकाल कर आदर्शोन्मुख यथार्थ जीवन की ओर मोड़ा। आपकी रचनाओ मे ग्राम तथा किसान का जीवन बड़ा खरा उतरा है। मनुष्य-मात्र के लिए हृदय मे स्थान होने के कारण आप दोषो को दूर करके समाज को सुधारना चाहते हैं। आपकी मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) **उपन्यास**—सेवासदन, प्रेमाश्रम, गबन, गोदान आदि।

(ख) **कहानियां**—मानसरोवर (चार भाग) आदि।

हिन्दी-कथा-साहित्य के तीन युग है—(क) प्रेमचन्द-पूर्व-युग, (ख) प्रेमचन्द-युग, (ग) प्रेमचन्दोत्तर-युग। प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति उनका उपन्यास 'गोदान' है। इसका अनेक देशी और विदेशी भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है। इसका नायक 'होरी' भारत का नित्य किसान है और उसकी समस्याएँ किसान की सनातन समस्याएँ है।

'बड़े भाई साहब' नामक कहानी में प्रेमचन्द ने एक बड़े भाई का वर्ग-चित्रण किया है, वह स्वय मन्दबुद्धि होकर भी अपने छोटे भाई के सामने आदर्श रखना चाहता है।

जल्दबाजी (पृ० १४)—व्यंग्यार्थ है 'पढने मे बड़े सुस्त और मन्द-बुद्धि थे।'

शेर (पृ० १४)—उर्दू भाषा का एक छन्द।

ऐरा-गैरा, नत्थू-खैरा (पृ० १५)—प्रत्येक सामान्य व्यक्ति।

पास नहीं फटकता (पृ० १६)—समीप नही जाता।

आड़े हाथों लूँ (पृ० १७)—खरी-खरी सुनाऊँ।

घाव पर नमक छिड़कना (पृ० १७)—कष्ट पर कष्ट देना।

अन्धे के हाथ बटेर (पृ० १६)—संयोगजन्य लाभ।

अन्धा-चोट (पृ० १६)—लक्ष्यहीन।

कोड़ी (पृ० १६)—२० की सख्या।

दोयम, सोयम, चहारम (पृ०१६)—द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ।

कनकौवा (पृ० २२)—पतंग।

मिडिलची (पृ० २३)—मिडिल परीक्षा पास।

हाथ-पाँव फूल जाना (पृ० २४)—घबरा जाना।

तुलसीकृत रामायण

श्री विनोबा भावे

भूदान-यज्ञ के प्रसिद्ध नेता श्री विनोबा भावे का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था। आप भारतीय सन्त-परम्परा के मूर्तिमान् अवतार हैं। देश के अग्रणी विचारकों में आपका प्रमुख स्थान है। आप उत्तर और दक्षिण भारत की अनेक भाषाओ के ज्ञाता हे। आपके प्रवचनो मे जीवन का अनुभव तथा सास्कृतिक परम्परा दोनों का पूर्ण समन्वय मिलता है।

प्रस्तुत लेख में श्री विनोबाजी ने गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' का व्यावहारिक विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का साहित्यिक और सामाजिक दोनो प्रकार का महत्त्व है। एक अहिन्दी भाषी उच्चकोटि के विचारक की लेखनी से इस मूल्यांकन की छाप हिन्दी-प्रेमियों के लिए गौरव की बात है।

शिष्यात्···(पृ० २६)—शिष्य से पराजित होकर गुरु को हर्ष प्राप्त होता है।

अनन्वयालंकार (पृ० २६)—एक वस्तु की तुलना उसी वस्तु से करना, जैसे चन्द्र-सा चन्द्र ही है।

द्वारकापुरी में लौट (पृ० २७)—निर्धन सुदामा अपने मित्र कृष्ण के पास गये। कृष्ण ने उनको प्रत्यक्ष कुछ न दिया, परन्तु उनकी नगरी भी अपनी जैसी बना दी। खिन्न-मन सुदामा अपने घर लौटे तो उनको लगा कि वे द्वारका मे ही हैं।

एकनाथ (पृ० २७)—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त, भागवत के अनुवादक।

उपवास मीठा है (पृ० २८)—लोमड़ी जब अंगूर न पा सकी तो उसने मन को समझाया कि अगूर खट्टे है। प्राप्य वस्तु का त्याग उपवास है, जिसमे मन को मारना नहीं होता प्रत्युत संयम रखना होता है।

भारतीय संस्कृति

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का जन्म बिहार राज्य में हुआ था। आप देश के मुख्य नेताओं में से थे। सबसे पहले आपने हिन्दी में अपनी 'आत्म-कथा' लिखी। आपके राजनीतिक और सांस्कृतिक विचार हिन्दी और अंग्रेजी में उपलब्ध हैं। गांधीवाद के आप दृढ़ स्तम्भ थे। प्रस्तुत भाषण आपने सन् १९५१ में अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन में दिया था। २८ फरवरी १९६३ को आपका स्वर्गवास हो गया।

कोस-कोस (पृ० ३१)—थोडी-थोड़ी दूर पर पृथ्वी के गुण के कारण पानी का गुण बदल जाता है, और कुछ अधिक दूर जाने पर मनुष्य की बोलियां भिन्न हो जाती हैं।

तेन त्यक्तेन (पृ० ३३)—ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र। ससार मे जो कुछ भी

है उसमे ईश्वर का निवास है, इसलिए संसार का त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए।

भय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् १८८४ ई० मे बस्ती जिले के एक ग्राम मे हुआ था। बचपन मे आपको सस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू की शिक्षा मिली। आपकी विशेष रुचि चित्रकला मे थी। साहित्य से आपका सम्बन्ध नागरी प्रचारिणी सभा काशी के प्रबन्ध से प्रकाशित 'हिन्दी-शब्द-सागर' नामक कोश के साथ हुआ। आगे चलकर आप हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और आजीवन साहित्य-सेवा करते रहे।

शुक्लजी हिन्दी के युगान्तरकारी आलोचक और निबन्ध-लेखक हैं। आपने आलोचना को विचारात्मक, गम्भीर तथा व्यापक रूप दिया। आपका कार्य-क्षेत्र मुख्यतः तीन दिशाओं में है—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, समालोचना तथा विचारात्मक निबन्ध। आपकी मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) हिन्दी-साहित्य का इतिहास

(ख) रस-मीमांसा (सैद्धान्तिक आलोचना)

(ग) जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका
(घ) भ्रमर-गीत-सार की भूमिका } (समालोचना)
(ङ) तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका

(च) चिन्तामणि, भाग १ तथा २ (निबन्ध-संग्रह)

चिन्तामणि (प्रथम भाग) के प्रथम १० लेख मनोविज्ञान-सम्बन्धी हैं। 'भय' उन्हीं में से एक है। लेखक ने मनोविकारों पर साहित्यिक दृष्टि से विचार किया है।

त्योरी बदलकर (पृ० ३४)—क्रोधोन्मेष मे।

ठेका ले रखा है (पृ० ३५)—एकाधिकार है।

शास्त्रार्थ (पृ० ३५)—शास्त्रीय विषय को लेकर दो व्यक्तियो में वाद-विवाद।

मुँह चुराते हैं (पृ० ३५)—डरते हैं; बचना चाहते हैं।

अच्छी ही नहीं लगती (पृ० ३६)—स्वभाव से बुरे काम से घृणा है।

थानेदार (पृ० ३८)—पुलिस का अधिकारी।

भीतरी आँख (पृ० ३८)—ज्ञान-चक्षु।

वणिग्वृत्ति (पृ० ४१)—व्यापार द्वारा संसार पर शासन।

क्षात्रवृत्ति (पृ० ४१)—अत्याचार के विरुद्ध अपनी शक्ति लगाकर उसका दमन करना, क्षत्रियो का धर्म।

मुक्तातंक (पृ० ४१)—निर्भय।

चीनी भाई

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म १९०७ ई० में फर्रुखाबाद के सुशिक्षित और सम्पन्न परिवार में हुआ था। विवाह के उपरान्त आपने प्रयाग विश्व-विद्यालय में एम० ए० तक संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या हो गईं। महादेवी जी का जीवन साधना और सेवा का प्रत्यक्ष आदर्श है। काव्य में मीरा और दर्शन में गौतम का छात्रावस्था में महादेवी पर जो प्रभाव पड़ा, वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया।

महादेवी जी प्रधान रूप से कवयित्री हैं। आपकी प्रसिद्ध कृति 'यामा' में काव्य-कला, संगीत-कला और चित्र-कला का अपूर्व योग है। 'यामा' की कविताएँ छायावादी भावना से ओत-प्रोत हैं। 'यामा' के चार खण्ड हैं—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' तथा 'सान्ध्य-गीत'। आपकी कविताओं का दूसरा संग्रह 'दीपशिखा' है। इन गीतों मे वेदना का साम्राज्य है, और 'प्रिय' अनुभूति का प्राण।

गद्य में भी महादेवी उतनी ही सफल हैं। उनके दो संग्रह रेखाचित्रों के हैं—'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति रेखाएँ'। 'पथ के साथी' आपके संस्मरणो का संकलन है। रेखा-चित्रों में महादेवी सामाजिक धरातल पर उतर कर समाज की वेदना से प्रभावित हुई है और कर्मण्य बनकर उनमें सुधार का प्रयत्न करने लगी हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' आपके विचारपूर्ण लेखो का संग्रह है, इसमें नारी की सनातन समस्याओं पर गहराई से सोचा गया है। काव्यालोचन के प्रश्नों पर महादेवीजी ने अपने साधिकार विचार अभिव्यक्त कर सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बना लिया है।

'चीनी भाई' महादेवीजी का एक प्रसिद्ध रेखाचित्र है। जहाँ भी करुणा के लिए अवकाश है वहाँ लेखिका की सहानुभूति अबाध गति से पहुंच जाती है।

कार्बन की कापियाँ (पृ० ४२)—एक ही नमूने के बने हुए।

होम करते हाथ जला (पृ० ४३)—उपकार करते हुए आपत्ति सिर पर आई।

भोत अच्चा (पृ० ४३)—बहुत अच्छा।

हैंकी (पृ० ४४)—हैंडकर्चिफ, रुमाल।

आँखों के अन्धे नाम नैनसुख (पृ० ४५)—जिस गुण के कारण प्रसिद्ध हो उस गुण का अभाव।

चोरों की बरात (पृ० ४६)—बुरे काम करने वाले आपस मे एक दूसरे पर बहुत शंका करते हैं।

चोर के घर छिछोर (पृ० ५०)—दुर्जनों के घर मे हीन व्यक्ति।

दीक्षान्त संस्कार (पृ० ५०)—शिक्षण की पूर्णता का उत्सव।

खनका-खनकाकर (पृ० ५१)—बजाकर।

विद्यार्थी और राजनीति

पं० जवाहरलाल नेहरू

पं० जवाहरलाल नेहरू देश के सम्मानित नेता और विश्व के प्रतिष्ठित

राजनीतिज्ञ थे। आपका जन्म प्रयाग में हुआ था। शिक्षा के उपरांत आप कांग्रेस मे आ गये। तब से उत्तरोत्तर उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए देश और समाज का हित करते रहे।

प्रस्तुत लेख नेहरूजी की 'हिन्दुस्तान की समस्याएँ' पुस्तक से लिया गया है। यह विद्यार्थी-समाज के लिए बड़ा उपयोगी है। लेखक ने एक जीवन्त प्रश्न पर वैज्ञानिक विचार किया है।

अजीब (पृ० ५४)—अद्‌भुत।

मसला (पृ० ५४)—समस्या।

निविड़ वन (पृ० ५५)—जीवन अनेक समस्याओ से घिरा हुआ है इसीलिए यह घने जंगल के समान है।

बनिस्बत (पृ० ५६)—अपेक्षा।

कुदरतन (पृ० ५६)—स्वभावतः।

खाली मगजवाली ताकत (पृ० ५६)—अंग्रेजी शासन, जो मस्तिष्क के विकास से रहित है।

हुक्मों को बजाते रहें (पृ० ५७)—आज्ञाओ का पालन करते रहें।

नवीन सामाजिक व्यवस्था

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् देश के श्रेष्ठ दार्शनिक और राजनीतिज्ञ थे। चिरकाल तक देश-विदेश मे प्रोफेसर रहे, तदनन्तर विदेशों में राजदूत। आप भारत के उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति रह चुके है। डॉ० राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन का अंग्रेजी के माध्यम से विदेशो में प्रचार किया है, और उसकी व्यावहारिकता पर विशेष जोर दिया है। आप परम मेधावी, सफल लेखक और अत्यन्त व्यवहार-कुशल थे।

प्रस्तुत प्रकरण डॉ० राधाकृष्णन् का दीक्षात भाषण है। इसमें नवयुवकों के सामने नवीन जीवन की चुनौती स्वीकार करते हुए आगे बढ़ने की अपील की गई है।

अराजक अव्यवस्था (पृ० ५८)—गडबड, उद्देश्यहीनता ।
घर नहीं किए है (पृ० ५८)—अवश्य ही घर किए है, बस गई हैं ।
घुन लग गया है (पृ०५६)—जड़ो को खोखला करने वाले दोष उत्पन्न हो गये हैं ।
मनसा-वाचा-कर्मणा (पृ० ५६)—मन, वाणी और कर्म से ।
आजाद कौम (पृ० ६०)—स्वतन्त्र राष्ट्र तथा जाति ।
दिमागी घोड़ा दौड़ाना (पृ० ६०)—कल्पना के ससार में विचरण करना ।
न्यौता नहीं है (पृ० ६०)—निमन्त्रण नही है ।
प्राकृतिक जन-शासन (पृ० ६१)—बहुसंख्या के आधार पर उत्तरदायित्वहीन शासन ।

सड़क की बात

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर बग-साहित्य के अमूल्य रत्न और समस्त भारतीय साहित्य के अनुपम भूषण है । देश से बाहर आधुनिक साहित्यिको मे सबसे अधिक सम्मान आपको ही प्राप्त हुआ है । 'गीतांजलि' आपकी अमर रचना है । जिस प्रकार तमिल मे सुब्रह्मण्यम् भारती और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद हैं उसी प्रकार बगला मे रवीन्द्र बाबू है । अनेक भाषाओं में आपकी कृतियों का अनुवाद हुआ है । कविता के अतिरिक्त नाटक, कथा-साहित्य और लेख आपने लिखे है । आपका प्रभाव समस्त युग पर रहा है । भारतीय संस्कृति के आप श्रेष्ठ प्रवक्ता है ।

इस प्रकरण मे लेखक ने सड़क की आत्म-कहानी लिखी है । इसमें भावना और कल्पना का सुन्दर समन्वय है ।

अहल्या (पृ० ६३)—गौतम-पत्नी जो नारी से पत्थर बन गई थी, रामावतार मे राम की चरण-रज के स्पर्श से पुनः नारी बन गई ।
जड़-निद्रा (पृ० ६३)—जड के समान निर्जीव बनाने वाली निद्रा ।
समाप्ति और स्थायित्व (पृ० ६४)—सडक पर आने-जाने वालों का कभी अन्त नही, और जो आता है वह थोड़ी देर भी नही रुकता, चला निकल जाता है ।

बगल में (पृ० ६५)—मेरे पास, मेरे बराबर।

हौले-हौले (पृ० ६६)—धीरे-धीरे।

जहँ-जहँ (पृ० ६६)—जहाँ-जहाँ उनके कोमल तथा लाल चरण चलें वहां-वहाँ मेरा शरीर उनका आधार-स्थान बने।

रुनझुन (पृ० ६६)—उल्लास व्यक्त करने वाला नूपुरों का शब्द।

छाती फाड़-फाड़ कर रोना (पृ० ६७)—व्याकुल तथा अधीर होकर रोना।

घाम (पृ० ६८)—धूप।

हवा पर हवा (पृ० ६९)—निःश्वास भी हवा है, और वायुमण्डल भी। इसलिए वायुमण्डल में निकाले गये दीर्घ निःश्वास शनैः शनैः शून्य में विलीन हो जाते हैं।

कवि और सन्त

श्री काका कालेलकर

काका साहब कालेलकर साहित्यिक राजनीतिज्ञ हैं। मराठी और गुजराती में आपने समान रूप से लिखा है। हिन्दी, उर्दू, बंगला तथा अंग्रेजी का भी आपने विशेष अध्ययन किया है; जो आपकी रचनाओं मे स्पष्ट झलकता है। आपके लेखों में सहृदयता और गम्भीरता समान रूप से प्राप्त है। प्रस्तुत निबन्ध 'जीवन-विहार' से लिया गया है। इसमे सन्त और असन्त की परख पर जोर दिया गया है।

बोधामृत (पृ० ७०)—ज्ञान रूपी अमृत।

प्रासादिक (पृ० ७०)—प्रसाद गुण पूर्ण अर्थात् सरल। प्रसाद रूप मे प्राप्त अतः श्रद्धा के योग्य।

सुरुचिवादी (पृ० ७१)—रमणीय तथा आकर्षक की परख करने वाले।

विसवादी (पृ० ७२)—मूल स्वर से अलग रहने वाला।

अजीबोगरीब (पृ० ७३)—अद्भुत, नवीन।

करतब (पृ० ७४)—कर्त्तव्य; विचित्र कर्म।

सगीति (पृ० ७५)—धर्म-निर्णय करने वाली सभा।

अप्रामाण्य (पृ० ७५)—प्रमाण या विश्वास के अयोग्य।

प्रमाण (पृ० ७५)—कदम उठाना।

खेल

श्री जैनेन्द्र कुमार

श्री जैनेन्द्र कुमार का जन्म १६०५ ई० मे अलीगढ़ जिले में हुआ था। आपने कोई नौकरी नहीं की। कई बार राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल गये। आज-कल दिल्ली में रहकर साहित्य-सेवा कर रहे हैं।

श्री जैनेन्द्रजी का हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द के बाद सबसे ऊँचा स्थान है। प्रेमचन्द ने भारतीय ग्रामीण जीवन को अपने कथा-साहित्य का विषय बनाया है, जैनेन्द्रजी ने मध्यवर्गीय जीवन को। इसलिए इनके साहित्य में अर्थ और काम की ग्रन्थियाँ भरी पड़ी हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में आप शिरोमणि हैं।

जैनेन्द्रजी की कहानियाँ ७ भागों में 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' नाम से छपी हैं। आपके उपन्यास हैं—परख, सुनीता, कल्याणी, त्याग-पत्र, सुखदा, विवर्त्त और व्यतीत।

खिलवाड़ (पृ० ७६)—बच्चो का खेल।
दंगई (पृ० ७७)—उपद्रव करने वाले।
कारगुजारी (पृ० ७८)—निर्माण-कार्य।
व्याजकोप (पृ० ८१)—बनावटी कोप।
दया बख्शना (पृ० ८२)—दया-दान।

ताजमहल की आत्म-कहानी

बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय हिन्दी के वयोवृद्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार थे। दर्शनशास्त्र मे एम० ए० परीक्षा पास करने के बाद आप कुछ समय तक नौकरी करते रहे। फिर साहित्य-सेवा में जुट गये। आगरा के सेण्ट जोन्स कालेज मे हिन्दी के प्रोफेसर और 'साहित्य संदेश' नामक मासिक पत्र के सम्पादक आप दशाब्दियों तक रहे हैं। निबन्ध तथा आलोचना के क्षेत्र में आपने साहित्य की विशेष सेवा की है। आपकी सैद्धान्तिक आलोचना में भारतीय दर्शन और

पाश्चात्य मनोविज्ञान की समन्वित छाप है। आपकी साहित्य-सेवा को ध्यान में रखते हुए आगरा विश्वविद्यालय ने आपको डी० लिट्० की सम्मान्य उपाधि प्रदान की है।

बाबू जी की मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) **सैद्धांतिक आलोचना—काव्य के रूप, सिद्धांत और अध्ययन, नवरस।**

(ख) **इतिहास—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास।**

(ग) **निबन्ध—मेरी असफलताएँ; कुछ उथले, कुछ गहरे।**

वही सो रहा है (पृ० ८३)—सम्राट् शाहजहां।

प्रेम की लौ (पृ० ८३)—प्रेम की ज्योति।

सम्राट् (पृ० ८५)—शाहजहाँ।

कस्तूरबा (पृ० ८५)—महात्मा गाँधी की पत्नी।

नाखून क्यों बढ़ते हैं ?

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

प० हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०७ में हुआ था। बी० ए० तक अध्ययन करने के अनन्तर आप सन् १९३० में शान्ति-निकेतन हिन्दी अध्यापन-हेतु चले गये। लखनऊ विश्वविद्यालय ने आपको डी० लिट् की सम्मान्य उपाधि प्रदान की है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी-जगत में द्विवेदी जी का ही स्थान है। आपका विशेष क्षेत्र आलोचना और निबन्ध हैं। आपकी रचनाओं मे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, व्यापक दृष्टिकोण, सहज प्रवाह तथा महनीय व्यक्तित्व सर्वत्र दर्शनीय है।

द्विवेदीजी की मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) **आलोचना—सूर साहित्य, हिन्दी-साहित्य की भूमिका, कबीर, नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दी-साहित्य का आदिकाल आदि।**

(ख) **निबन्ध—अशोक के फूल, कल्पलता, विचार और वितर्क आदि।**

(ग) **अन्य—बाणभट्ट की आत्मकथा।**

सेंध···(पृ० ८६)—अपराध करने को फिर तैयार।

अंग से बाहर (पृ० ८६)—पत्थर, लोह आदि।

ततः किम् (पृ० ८७)—फिर क्या हुआ ?

जम के सँवारता था (पृ० ८८)—धैर्यपूर्वक सजाता था।

नौसिखुए (पृ० ९०)—नये सीखने वाले।

आहार-निद्रा (पृ० ९१)—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन पशु स्वभाव है।

एतद्धि···(पृ० ९१)—हे भारत, ये तीन बातें सभी लोगों के लिये श्रेष्ठ पालनीय धर्म है—वैरहीनता, सत्य तथा क्रोधहीनता।

हावी हुई (पृ० ९२)—जीत गई।

जयशंकर प्रसाद

डॉ० विनयमोहन शर्मा

डॉ० विनयमोहन शर्मा का असली नाम पं० शुकदेव तिवारी है। एम० ए०, एल-एल० बी० तक अध्ययन करके आप साहित्य के क्षेत्र में आ गये। वर्षों तक आप नागपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। आपने हिन्दी और मराठी के साहित्य का विशेष और तुलनात्मक अध्ययन किया है। 'दृष्टिकोण', 'कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ', आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ है। शर्माजी की आलोचना स्वतन्त्र तथा व्यावहारिक है। आपकी शैली में प्रतिभा, प्रवाह तथा अध्ययनशीलता के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

कहां चली (पृ० ९४) (पूर्वी बोली)—कहां चलेंगे ?

आवा बैठा (पृ० ९४) (पूर्वी बोली)—आइए, बैठिए।

माधुरी (पृ० ९४)—एक प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका।

लोगन···(पृ० ९५)—लोगों ने समझ रखा है कि कविता करना खेल है।

बदन (पृ० ९६)—मुख।

ंस (पृ० ९७)—काशी से निकलने वाला मासिक पत्र।

मधुप···(पृ० ९७)—यह कविता 'लहर' में संग्रहीत है।

मालव-प्रेम

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार हैं। जयशंकर प्रसाद ने हिन्दू-काल के इतिहास को अपने कथानक का स्रोत बनाया, हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने मध्ययुग को। प्रसाद की भाषा क्लिष्ट तथा काव्यात्मक है, 'प्रेमी' जी की सरल तथा स्वाभाविक। आप गांधीवादी कलाकार हैं। काव्य और नाटक आपका विशेष क्षेत्र है। आपके एक दर्जन से अधिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। आपके मुख्य नाटक है—रक्षा-बन्धन, शिवा-साधना, प्रतिशोध, स्वप्न-भंग, आहुति, मित्र, विष-पान आदि। आपने एकांकी नाटक भी लिखे हैं। प्रस्तुत नाटक मे कर्त्तव्य और प्रेम का सुन्दर संघर्ष है, जो राष्ट्र-प्रेम को सर्वोपरि स्वीकार करता है। इसका कथानक और भाषा प्रवाहमयी है।

दुपट्टा (पृ० १०३)—उत्तरीय।

प्राणों की बाजी (पृ० १०६)—आत्मबलिदान करके।

प्रेमचन्द

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र का हिन्दी के आलोचको मे प्रमुख स्थान है। आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० पास करने के बाद आप प्रारम्भ मे अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। भारतीय और पाश्चात्य काव्यालोचन की आपने सैद्धान्तिक समीक्षा भी की है, दोनों के समन्वय का प्रयत्न भी किया। विचारो की गम्भीरता के कारण आपकी शैली अपेक्षाकृत क्लिष्ट है। डॉ० नगेन्द्र रसवादी आलोचक है। आपकी प्रमुख रचनाएँ—

सुमित्रानन्दन पन्त, साकेत : एक अध्ययन, आधुनिक हिन्दी-नाटक, विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, विचार और विश्लेषण, रीतिकाव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, रस-सिद्धान्त आदि।

हुक्काम (पृ० ११३)—हाकिम, अफसर।

वर्ग-चेतना (पृ० ११४)—शोषक-वर्ग और शोषित-वर्ग इन दो वर्गों की भावना ।
खाने (पृ० ११४)—विभक्त स्थान ।
पट्टाभि (पृ० ११५)—श्री पट्टाभि सीतारमैया जिन्होंने कॉंग्रेस का इतिहास लिखा है ।
राजेन्द्र बाबू (पृ० ११५)—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने 'आत्मकथा' लिखी है ।
हिमायती (पृ० ११६)—सहायक ।

तिरुवल्लुवर

डॉ० ओम्प्रकाश

डॉ० ओम्प्रकाश आलोचक और निबन्ध लेखक हैं । प्रादेशिक साहित्य और सस्कृतियो मे आपकी विशेष रुचि है ।

आपकी मुख्य रचनाएँ—**आलोचक की ओर, भावना और समीक्षा, हिन्दी अलंकार-साहित्य, हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य** ।

जातिवाचक (पृ० ११८)—जो एक छन्द का नाम है ।
व्यक्तिवाचक (पृ० ११८)—रचना विशेष का नाम बन गया है ।
किंवदन्तियाँ (पृ० ११६)—कही-सुनी बाते ।
तिरु (पृ० ११६)—श्री ।
दन्तकथा (पृ० १२०)—मौखिक घटना ।
पंचमवेद (पृ० १२०)—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व—ये चार वेद हैं । इनके अनंतर जो रचना सम्मानयोग्य मानी जाती है, वह पंचम वेद है ।
पुनरुत्थापक (पृ० १२१)—पुनरुत्थानवादी ।
कर्मण्य (पृ० १२२)—कर्मशील ।
कौटिल्य (पृ० १२२)—चाणक्य, 'अर्थशास्त्र' के प्रसिद्ध लेखक ।